• श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः •

स वै पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे । अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः । नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।

श्रीमद्भागवत-पत्रिका

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर । किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल वंचनकर ।

वर्ष ११ | गौराब्द ४७६, मास—नारायण ८, वार—कारणोदशायी बृहस्पतिवार, ३०, अग्रहायण, सम्वत् २०२२, १६ दिसम्बर, १९६५ | संख्या ६-७

श्रीश्रीमदनगोपाल-स्तोत्रम्

(श्रील-रघुनाथदास-गोस्वामी-विरचितम्)

वनभुवि रवि-कन्या स्वच्छ-कच्छालिपालि ध्वनियुत-वरतीर्थ-द्वादशादित्य कुञ्जे ।
सकनक मणिवेदी मध्यमध्याधिरूढः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥१॥

सुभग-नवशिखण्ड - भ्राजदुष्णीष - हाराङ्गद-वलय - समुद्रा-ध्वान मञ्जीर रम्यः ।
वसन घुसृणचर्चा मालिकोल्लासिताङ्गः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥२॥

कटिकृत-वरभङ्ग-न्यस्त-जंघान्यजंघः करयुग धृतवंशी न्यस्य बिम्बाधराग्रे ।
सुमधुरमति तिर्यग्ग्रीवया वादयंस्ताम् स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥३॥

विधिकृत - विचुसृष्टि - व्यर्थताकारि - वक्त्र-द्युतिलव-हृद-राधा-स्थूल-मानान्धकारः ।
स्मित-लपित-मधुल्योन्मादितैतद्वृषीकः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥४॥

शरदुदित - सरोजव्रात - विस्रासि - नेत्रान्चल - कुटिल - कटाक्षैर्मन्दरोद्दण्डचालैः ।
झटिति-मथित-राधा-स्वान्त-दुग्धार्णवान्तः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥५॥

कुटिल-चटुल-चिल्लीवल्लि-लास्येन लब्ध प्रथित-सकल-साध्वी-धर्मरत्नः-प्रसादः ।
तिलकवदलिकेन ध्वस्त-कामेषु चापः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥६॥

शुकयुवक-वरचञ्चु-प्रांशुनासांशुसिन्धौ जनित कुलवधूटी-दृष्टिमत्स्यो विहारः ।
स्मितलव-युत-राधाजल्प-मंत्रोन्मदान्तः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥७॥

विकसदधर - बन्धुकान्तरुड्डीय-गन्धैः पतितमुपविधर्त्तुं - राधिका - चित्तभृङ्गम् ।
वशन-रुचिगुणाये वत्त-तत्सीधुचारः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥८॥

श्रवण-मदनकन्द - प्रेक्षणोड्डीन - राधाधृति-विभव-विहङ्गे-न्यस्त-नेत्रान्त बाणः ।
अलक-मधुप-दत्त-द्योत-माध्वीक-सत्रः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥९॥

परिमल - रुचिपाली - शालि - गान्धर्विकोद्यन्मुखकमल - मधूली-पानमत्त-द्विरेफः ।
मुकुरजयि-कपोले मृग्य-तच्चुम्ब-बिम्बः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥१०॥

मकर - मुख - सदृक्ष - स्वर्णवर्णावतंस - प्रचलन - हृत - राधा - सर्वशरीर-धर्मः ।
तदतिचल-दृगन्त-स्वस्थ-वंशे धृताक्षः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥११॥

हरिमणि-कृतशंख-श्लाघितोल्लंघि-लेखात्रय-रचिवृत-कण्ठरयोपकण्ठे मणिन्द्रम ।
वधदिह-परिरब्धुं राधिकां बिम्बिताञ्च स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥१२॥

कुवलयकृत-वक्षस्तल्पमुच्चं दधानः श्रम-विलुलित-राधा-स्वापनायैव नव्यम् ।
भुजयुगमपि दिव्यं तत् प्रकाण्डोपधानं स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥१३॥

रुचिर-जठरपत्रे चित्र - नाभी - तटोत्थतनुरुहतति - नाम्नीं वल्लरीवृन्द-भुक्त्यै ।
स्मर-नृपतिःसमुद्र-स्वाक्षरालीं दधानः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥१४॥

युवति - हृदयसेम - प्रौढ़बन्धाय कामस्थपति-चित - रसोरुस्तम्भ-जृम्भानिरामः ।
मरकत-कटजंत्र-क्षुल्लाजातु-प्रसन्नः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥१५॥

प्रणय-नवमधूनां प्राणमात्रैकगत्या सकल-करणजोव्यं राधिका मत्तभृङ्गधाः ।
अरुण-चरण-कञ्जद्वन्द्वमुल्लास्य पश्यन् स्फूरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥१६॥

अतुल विलसदङ्गश्रेणि-विन्यास-भङ्ग्या ग्लपि-मदनकोटि-स्फार-सौन्दर्य-कीर्त्तिः ।
बललव-हृत-मत्तावार-पारीन्द्रदर्पः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥१७॥
तरणि-दुहितृ-कच्छे स्वच्छ-पायोदधामा समुदित-नव-कामाभीर-रामावलीनाम् ।
तडिदति-रुचिबाहु-स्फुर्ज्जदंसोऽतिजृम्भन् स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एषः ॥१८॥

नव तरुणिम-भट्टाचार्य-वर्येण शास्त्रं मनसिज-मुनि कण्ठस्थं न्यायमध्यापिताभिः ।
नव-नव-युवतीभिर्विभ्रदुद्ग्राहमस्मिन् स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एवः ॥१९॥

रतिमति रचयन्त्या राधिका-नर्मकान्त्या स्थगित-वचनदर्पः स्फारितान्य-प्रसङ्गः ।
खरमिति ललितास्ये किञ्चदञ्चत् स्मिताक्षः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एवः ॥२०॥

सविध-रमित-राधः साध्रज-स्निग्धरूपप्रणय-रुचिर-चन्द्रः कुञ्जवेला-वितन्द्रः ।
रचित-जन-चकोर-प्रेमपीयूष-वर्षः स्फुरति मदनपूर्वः कोऽपि गोपाल एवः ॥२१॥

मदनवलित-गोपालस्य यः स्तोत्रमेतत् पठति सुमतिरुच्चत्-दैन्य-वन्याभिषिक्तः ।
स खलु विषय-रागं सौरि-भागं विहाय प्रतिजनि लभते तत्पाद-कञ्जानुरागम् ॥२२॥

अनुवाद—

वन-भूमिमें सूर्य-कन्या यमुनाजीके निकटवर्ती तट-प्रदेशान्तर्गत भ्रमर-गुञ्जित उत्कृष्ट तीर्थ-रूप 'द्वादशादित्य' नामक कुञ्जमें मणिवेदी पर अध्यासीन होकर, वही अनिर्वचनीय मदनगोपाल अत्यन्त शोभा पा रहे हैं ॥१॥

जिनका अङ्ग सुन्दर और नये मयूरपुच्छसे देदीप्यमान मुकुट, हार, अङ्गद, वलय, नामांकित अगूँठी और शब्दायमान नूपुर आदि आभरणोंसे सुशोभित है और वसन, कुंकुम, लेपन और पुष्पों की मालाओंसे बहुत ही शोभा पा रहा है, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे शोभा पा रहे हैं ॥१॥

उत्तम कटिप्रदेशमें श्रेष्ठ भङ्गीके निमित्त जो बांए जांघमें दाएँ जांघ को न्यस्त किये हुए हैं और जो कर-युगलधृत मुरलीको अधर बिम्बके अग्रभागमें स्थापनपूर्वक वक्र ग्रीवासे सुमधुर स्वरमें उसे वादन कर रहे हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ।।३॥

विधि-निर्मित चन्द्रके धिक्कारकारी अपने मुख-मण्डलके कान्तिलेश के द्वारा जो श्रीराधाजीके स्थूलतर मानरूपी अन्धकारका हरण कर रहे हैं,और सुमधुर हास्ययुक्त आलाप-रूप मधुद्वारा जो श्रीराधाजीकी इन्द्रियोंको उन्मादित कर रहे हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं॥४॥

शरत्कालमें खिलनेवाले पद्मसमूहोंके भी भयोत्पादक अर्थात् कमलसदृश लोचन-युगलमें मन्दगिरि के उद्दण्ड सञ्चालन-तुल्य कटाक्ष द्वारा जो शीघ्र श्रीराधाके अन्तःकरणरूपी दुग्धसागरको मथ रहे हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥५॥

जिन्होंने कुटिल और चंचल भ्रूलताके विक्षेप द्वारा विख्यात साध्वी नारियोंके धर्मरत्न-रूप प्रसाद को लाभ किया है एवं जिनके तिलकयुक्त ललाट द्वारा कामदेवके धनुष-बाण भी विनाश को प्राप्त हुए हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥६॥

शुक-युवकके उत्कृष्ट चोंचकी तुल्य जिनकी नासिका-किरणरूप समुद्रमें अल्पवयस्का गोपवधूओंकी दृष्टिरूप क्षुद्र मछलियाँ विहार कर रही हैं एवं श्री राधाजीके थोड़े हास्ययुक्त जल्पना-मन्त्रद्वारा जिनका अन्तःकरण उन्मत्त हो गया है, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीयरूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥७॥

अपने विकसित अधररूप बन्धुजीव-पुष्पमें गन्धके लोभसे उड़ते-उड़ते पतित श्रीराधाजीके चित्त-भृङ्गको समीपमें धारण करने के लिये जो दन्त-कान्तिरूप मनोहर रज्जुके अग्रमें भ्रमरको भक्षण सामग्री अर्पण किये हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥८॥

श्रवणरूप मदन-कन्दके (मूलके) दर्शन-हेतु श्रीराधाजीके धैर्यसम्पत्ति-रूप विहङ्ग उड्डीन होकर समागत होने पर जो उसके ऊपर नेत्राञ्चलरूप बाण निक्षेप करते हैं और जो चूर्ण कुन्तलरूप भ्रमर समूहको कान्तिरूप मधु-वन अर्पण किये हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥९॥

जन-मनोहर गन्ध और कान्तिविशिष्ट श्रीराधाके समुदित मुखकमलके मधुपानमें जो उन्मत्त भ्रमर जैसे हुए हैं और जो दर्पण-विजयी अपने कपोलमें श्रीराधाके मुखबिम्बका अन्वेषण कर रहे हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥१०॥

मकरमुख सदृश स्वर्णरचित कर्ण भूषणोंके सञ्चालन द्वारा जो श्रीराधाजीके समस्त शारीरिक-धर्मका अपहरण किये हैं, और श्रीराधाके चंचल दृगञ्चलको अतिशय चंचल करने के लिये जो अपने हस्तमें वंशीधारण कर उसकी ओर अपनी दृष्टि लगाए हुए हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥११॥

इन्द्रनीलमणि-निर्मित शंखके श्लाघा-निन्दनकारी रेखात्रयकी कान्ति-समावृत कण्ठसमीपमें जो मणीन्द्रमें प्रतिबिम्बता श्रीराधाजीको आकर्षण करने के लिये कौस्तुभ-मणि धारण किये हैं, वे ही मदन-गोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥१२॥

जो परिश्रान्ता श्रीराधाके विश्रामके लिये नीलोत्पल-सदृश वक्षःस्थलरूप समुन्नत नूतनशय्या एवं दिव्ययुगरूप प्रकाण्ड उपधान धारण किये हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥१३॥

जैसे राजा ब्राह्मणोंको क्षेत्रादिके चिरभोगके लिए मोहरयुक्त दानपत्र प्रदान करते हैं और ब्राह्मण-गण भी उसे ग्रहण कर निर्विघ्न होकर उपभोग करते हैं, वैसे ही गोपियोंके भोगके लिये जो मनोहर उदरपत्रमें नाभी तटोत्थित लोमावली नामक काम-देवके मुद्रायुक्त (मोहरसमन्वित) स्वाक्षर-श्रेणी धारण किये हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥१४॥

युवतियोंके हृदयरूप अलस हाथीके सुदृढ़ बन्धनके लिये कन्दर्पशिल्पी द्वारा संस्थापित सरल उरु-युगलरूप स्तम्भद्वयके कान्तिद्वारा जो मनोहर हैं एवं मरकतमणि निर्मित गजगण्ड जिसके अपेक्षा हीन जान पड़ता है, ऐसे जानुद्वारा जो शोभायमान

हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥१५॥

प्रणयरूप नव-मधु जिनका एकमात्र गति है अर्थात् प्रणय-नवमधुपान करनेके लिये जो भ्रमण करते हैं ऐसी श्रीराधा-रूप उन्मत्त भ्रमरीके सर्वेन्द्रियों के जीवनोपाय-स्वरूप अपने आरक्त पादपद्म-युगल का उल्लास वर्द्धन करते हुए जो शोभित हो रहे हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥१६॥

जिनकी अतुल विलासन्वित अङ्गश्रेणीकी विन्यास-भङ्गीसे कोटि कामदेवकी भी सौन्दर्य-कीर्त्ति ग्लानियुक्त हुई हैं और जो शक्तिशेश द्वारा मत्त हैं तथापि अपरिसीम बलसम्पन्न सिंहके गर्वको छिन्न किये हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥१७॥

सूर्यकन्या यमुनाजीकी तीरभूमिमें जिनकी कांति मेघ-सदृश है और अभिनव कामी गोपरमणियोंके विद्युत्विजयी भुजाओंके ऊपर जिनका स्कन्धदेश अतिशय शोभायमान हो रहा है, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥१८॥

अभिनव यौवनरूप भट्टाचार्यने जिन्हें काममुनि-रचित न्यायशास्त्र अध्ययन कराया है, ऐसे नव नव युवतियोंके साथ जो इस न्यायशास्त्रका प्रागल्भ्य विचार करते हैं, वे, ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥१९॥

श्रीराधिकाके अति उत्कृष्ट रतिकारिणी नर्मकान्ति द्वारा वचन-दर्प चूर्ण हो जानेके कारण जो अन्य प्रसङ्गका उत्थापन कर रहे हैं, और जो तच्छिणबुद्धि ललिताके वदनमें स्वल्प प्रकाशमान मधुरहास्य शोभित नेत्र निक्षेप किये हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीय रूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥२०॥

जो श्रीराधाजीके साथ निकटमें क्रीड़ा करते हैं और अग्रज सनातन गोस्वामीके साथ वर्त्तमान 'रूप' गोस्वामीकी प्रणय-कुमुद प्रकाशार्थ जो चन्द्र स्वरूप हैं, जो कुञ्ज क्रीड़ामें निरलस हैं, और जो जन-रूप चकोरके प्रति प्रेमामृतका वर्षण करते हैं, वे ही मदनगोपाल अनिर्वचनीयरूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥२१॥

जो सुबुद्धिमान व्यक्ति समुदित दैन्यरूप जलमें अभिषिक्त होकर अर्थात् अत्यन्त दैन्यके साथ श्री मदनगोपालके इस स्तोत्रका पाठ करते हैं, वे सूर्यपुत्र यमराजके अधिकार योग्य विषयाभिलाष परित्याग कर जन्म जन्ममें श्रीमदनगोपालजी चरणोंमें अनुरक्त होते हैं ॥२२॥

प्रकृत भोक्ता कौन है ?

जिनमे पदार्थान्तर (अन्य पदार्थ) को भोग करने की योग्यता वर्त्तमान है, उन्हें भोक्ता या भोक्तृतत्त्व कहते हैं और दूसरेके द्वारा भोगार्थ ग्रहण करने योग्य पदार्थको भोग्य या भोग्यतत्त्व कहते हैं। जबतक इस भोक्तृ-भोग्यात्मक तत्त्वद्वयका सम्यक् ज्ञान नहीं होता, तब तक अज्ञ मनुष्य मरीचिकामें जल दर्शनकी तरह भूलसे एकका गुण अन्यमें अर्थात् भोक्ताका भाव भोग्यतत्त्वमें आरोप कर कृत्रिम भोक्ता बनकर भोगोंमें प्रवृत्त होते हैं और इस तरह नरककी ओर गमन करते हैं। जिस प्रकार भ्रान्तिके दूर होने पर मरुभूमिमें जलके स्थान पर बालुकाराशि दिखाई पड़ती है और जलाशयको छोड़कर अन्यत्र जलकी स्थिति नहीं है, ऐसे ज्ञानका उदय होता है, उसी प्रकार सम्यक्ज्ञानकी विकास भूमिकामें भोग्यतत्त्वमें भोक्तृत्त्वका दर्शन न होकर केवलमात्र भोक्तृतत्त्वमें भोक्तृत्त्वका दर्शन होता है।

इन्द्रियोंकी सहायतासे हम जन्म-स्थिति-लय-धर्मात्मक बाहरी पदार्थ और उनके परस्पर सम्बन्ध-सूचक लौकिक ज्ञानको प्राप्त करते हैं। किन्तु नित्य सत्यवस्तु और तत्सम्बन्धी अलौकिक ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए शास्त्रोंको छोड़कर हमारे लिए और कोई दूसरा पथ नहीं है, श्रीप्रह्लाद महाराजको अग्निकुण्डमें फेंकने पर वहाँ एकत्रित हुए सभी लौकिकज्ञानसम्पन्न व्यक्तियोंने यह सोचा कि प्रह्लादजी निश्चय ही भस्म हो जायेंगे और उनकी मृत्यु अवश्यंभावी है। किन्तु प्रह्लादजी और अन्यान्य भक्तोंके हृदयमें नास्तिक जनोचित ऐसी भित्तिहीन धारणाका उदय ही नहीं हुआ। "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" —इस भगवन्मुखनिःसृत आश्वासन हृदयमें जागरुक होनेके कारण सभी भक्तिमान व्यक्ति यह निश्चित रूपसे जानते थे कि भगवान अवश्य ही प्रह्लादजीकी रक्षा करेंगे। भगवान किस प्रकार अपने भक्तकी रक्षा करते हैं, इस लीलाको देखनेके लिए वे सभी कुतूहल थे। अग्निदेव जिनके निकटसे दाहिका शक्तिको प्राप्त किये हैं, ऐसे भगवान इच्छा करनेसे ही उक्त शक्तिको अग्निसे प्रत्याहार कर सकते हैं। यहाँ भी भगवानने अपनी प्रतिज्ञा-पालन करनेके लिए ऐसा ही किया। अग्नि दाहिका-शक्ति रहित होनेके कारण आगके कुण्डमें निक्षिप्त प्रह्लादजीका बाल भी बाँका न हुआ। लौकिक बुद्धि होनेके कारण विकृतमस्तिष्क सभी व्यक्ति इस उपाख्यानको विश्वास नहीं करते हैं और सुनने मात्रसे ही इसे मनःकल्पित कहानी कहकर अपनी धृष्टताका परिचय देते हैं। इतिहासमें देखा जाता है कि प्राकृत बुद्धि युक्त अनेक नास्तिक लोगोंने कालप्रभावसे सुकृति सम्पन्न होकर अन्तमें शास्त्रोज्जवला बुद्धिको लाभ किया था और ऐसी भक्तिवृद्धिकारी आख्यायिकामें विश्वास कर वे भगवत् सेवोन्मुखताको प्राप्त हुए। प्राकृतज्ञानके हेयत्वकी उपलब्धि होने पर जीव

शास्त्रानुशीलनमें प्रवृत्त होते हैं। उस समय वे यह जान पाते हैं कि भगवान ही आदि सत्यपदार्थ और सर्व शक्तिमान तत्त्व-विशेष हैं और अपनी अघटन-घटन-पटीयसी शक्तिके द्वारा अन्यान्य पदार्थ सृष्टि किये हैं। जैसे मिट्टीसे बनाये हुए घट-सरादि पदार्थ पृथक् रूपसे अवस्थित होने पर भी कारण रूप मृत्तिका को आश्रय कर अपनी-अपनी सत्ता प्रकाश करने में समर्थ हैं, वैसे ही भगवानके द्वारा रचित पदार्थ समूह पृथक्-पृथक् रूपसे अवस्थित होने पर भी कारणरूप भगवानको आश्रय पूर्वक ज्ञात या अज्ञात रूपसे अपनी-अपनी सत्ताका रक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। अतएव 'हम अमुकके पुत्र हैं और अमुक देशवासी हैं'—इत्यादि लौकिकज्ञानयुक्त धारणा समूह शास्त्रानुशीलनके प्रभावसे क्रमशः परिवर्तित हो जाते हैं और उनके स्थान पर हम भगवानके दास स्वरूप शुद्धजीव हैं और जड़ देहसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है एवं उन्हींके आश्रयमें हम अवस्थित हैं—ऐसे दिव्य ज्ञानका हमारे हृदयमें उदय होता है। क्योंकि लौकिकज्ञान अलौकिकज्ञान के प्रभावसे विलुप्त होनेके लिए बाध्य है, और इसी-लिए बाध्य हैं, और इसीलिए अलौकिकज्ञानमें ही हृत्कर्णरसायनता है, इसमें सन्देह ही क्या है ?

अलङ्कार शास्त्रमें ऐसा बतलाया गया है कि आश्रय जातीय पदार्थका एकमात्र धर्म विषयजातीय पदार्थकी सेवा करना ही है। जैसे आश्रयजातीय स्निग्धज्योत्स्ना प्रकाशिका शक्ति एकमात्र अपनी विषयजातीय चन्द्रमाकी महिमाको ही प्रकाशित करती है और बाहरी विषय-वासनाकी गन्धसे युक्त हृदयरूप आश्रय जातीय पदार्थका धन-जनादिरूप विषयजातीय पदार्थ जैसे दीखनेवाले अनित्य पदार्थ समूहकी सेवा और उनके नाम-रूप-गुण-लीलाका कीर्त्तन छोड़कर और कोई दूसरा कार्य नहीं है, वैसे ही आश्रय जातीय निखिल जीवकुलके शुद्ध स्वरूप स्वभावमें विषय जातीय श्रीभगवानकी सेवा और उनके नाम-रूप-गुण-लीलाका श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणा-त्मक कार्यको छोड़कर और किसी प्रकारकी बाह्य प्राकृतज्ञान जनित कर्त्तव्य बुद्धिनिष्ठ क्रिया का अस्तित्व नहीं है। ब्रह्मगायत्रीके "धियो यो नः प्रचोदयात्" पदका कई व्यक्ति ऐसा काल्पनिक अर्थ करते हैं कि जब श्रीभगवान ही बुद्धि वृत्तिके प्रेरक हैं तब कर्मकी हेयोपादेयता रूप विचार निरर्थक है और चित्तको ऐसी विचार-प्रवणताका दमन करनेके लिए सब प्रकारके कर्मोंके बुद्धिप्रदाताके रूपमें भग-वत्तत्त्वकी चिन्ता करनेकी व्यवस्थाकी गई है। ऐसे व्यक्ति अपने मतका समर्थन करनेके लिए "त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" इस शास्त्र वचनको उद्धृत कर अपने मता-नुकूल-अर्थ करते हैं और श्रोताके हृदयमें इस धारणा को प्रवेश करानेके लिए सूर्यकिरणका उदाहरण देकर ऐसा कहते हैं कि जिस प्रकार किरणसमूह बिना विचारके पापी और पुण्यात्माको समान रूपसे प्रकाश प्रदान करने पर भी पाप-पुण्यके भागी नहीं होते, और ऐसा प्रकाश प्रदान करना ही उनका धर्म है, उसी प्रकार मनुष्य भी विचार शून्य होकर सत्-असत् आदि सभी कर्म कर सकते हैं और ऐसे कार्यों से उनका किसी प्रकारसे कोई हानि होनेकी संभावना नहीं है, क्योंकि पाप और पुण्य घोड़ेकी अंडेकी तरह अलीक अर्थात् वास्तवसत्ता रहित तत्त्वविशेष

हैं। जड़पदार्थ होनेके कारण सूर्यकिरण हेयोपादेयता रूप विचारयोग्यताहीन है और वह नैसर्गिक (स्वाभाविक) नियमके अधीन है । एकमात्र मनुष्य ही हिताहित विचार करनेमें समर्थ हैं और शास्त्रकी सहायतासे ही यह यथार्थ रूपमें सम्भव है। शास्त्रानुशीलनके समय भगवत्कृपासे जो दिव्यालोक हमारे हृदयमें प्रतिफलित होता है, उसके द्वारा हम भगवत् सेवामें प्रवृत्त होते हैं; क्योंकि यह विशुद्ध आलोक (ज्ञान) भगवानके निकटसे हमारे हृदयमें आविर्भूत होकर हमें सेवाकार्यमें नियुक्त कराता है। इसीलिए शास्त्रोंमें भगवानको हमारे बुद्धिका प्रेरक बतलाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान कृष्ण ने स्पष्ट ही कहा है – "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य उन्हें प्राप्त करते हैं, उस विषयक ज्ञान या बुद्धि भगवान उन्हें प्रदान करते हैं। अतएव कल्याणके आकरस्वरूप श्रीभगवान कदापि हमें असत् कर्मोंमें नियुक्त नहीं कर सकते और असत् कर्मोंको सत्बुद्धि जनित कार्य कहनेसे हमें अन्तमें रौरवसे महारौरव नरकमें पहुँचकर कठोर यातना भोग करना होगा, इसमें सन्देह ही क्या है ? विषय भोगमें प्रमत्त नकल भक्तगण दूसरोंके निकट अपनी साधुता दिखलानेके लिए गायत्रीका कूट (दुष्ट) अर्थ करनेके लिए बाध्य होते हैं और जो व्यक्ति उनकी छलनाके द्वारा ठगे जाते हैं, उनके सङ्गको भी दुःसङ्ग जानकर परित्याग करना हमारा एकान्त कर्त्तव्य है।

विषय और आश्रय परस्पर स्वतंत्र सत्ताके रूपमें प्रतीत होने पर भी जब विषयकी सेवा करना ही आश्रयका धर्म है तब यह भी जाना जाता है कि सेवाके द्वारा विषय-जातीय वस्तुकी तृप्ति होनेसे आश्रय अपनेको कृत-कृतार्थ समझते हैं और विषय के सुखमें अपनेको सुखी मानते हैं। आश्रय जातीय पदार्थमें अपनी भोगतत्परता न होनेके कारण आश्रय तत्त्व विषय तत्त्वसे अभिन्न है, यह बोलना अत्युक्ति न होगा। शास्त्रोंमें बतलाया गया है भगवानने लीलारसका आस्वादन करनेके लिए अपने मूल स्वरूपको ठीक रखते हुए स्वांश और विभिन्नांश रूप से बहुत रूपोंको धारण किया है और अन्यान्य स्वरूपोंके द्वारा अपने मूल स्वरूपकी सेवारूप अभिनय करा रहे हैं। मूलरूपसे सेवा ग्रहण करनेके कारण उन्हें सेव्य या भोक्तृ-तत्त्व और अन्यान्य रूपोंको सेवक या भोग्यतत्त्व कहा जाता है।

जिस प्रकार विषयासक्त मनुष्य अपने अभावों को पूर्ण करनेके लिए कर्म करते हैं, वैसे कोई अभाव पूर्णानन्दमय भगवानमें न होनेके कारण कामियों की तरह उनमें प्रवृत्तिकी चेष्टा संभवपर नहीं है। राजा लोग अपने घर बैठे-बैठे अनायास ही अर्थके द्वारा मृगमांस खरीद कर खा सकते हैं और इसीलिए उनके मृगया (शिकार) रूप कर्मको कोई मांस के भक्षण करनेवाले व्याधके कार्यकी तरह घृणित नहीं समझ सकते। शिकार का अभिनय केवलमात्र इङ्गितज्ञापक लीलाका उदाहरण है, किन्तु भगवान का सृष्टिकार्य लीलातत्त्वका परिस्फुट भावाद्दीपक कार्य विशेष है अर्थात् और कोई अवान्तर उद्देश्य उसमें नहीं है। यदि कोई थोड़ासा स्थिर होकर विचार करें, तो वे यह अनुभव कर सकते हैं कि निरस्तकुहक (अज्ञान रहित) सत्यस्वरूपसे कोई एक विशेष तत्त्व नित्यसेव्य रूपसे शरीरमें रहते हुए

भी उससे पृथक् रूपमें अवस्थान कर रहे हैं और उनके रूप, गुण, लीला आदि की माधुर्यसे आकृष्ट होकर ही नित्यकालव्यापी सेवा करनेके लिए आश्रय जातीय जीवकुलने शरीर, मन और वचनको नियुक्त कर दिया है। जो भूमा पुरुष (अर्थात् पूर्णानन्दके भंडार विशेष) हैं, उनकी सेवासे ही प्राणियोंकी तृप्ति हो सकती है।

तुच्छ धन-जनादिकी सेवाके द्वारा भगवत्सेवानन्दका लेशमात्र भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। विभिन्नांश पदार्थ होनेके कारण जब ज्ञान अथवा अज्ञानसे वे धन जनादि क्षुद्र पदार्थोंमें जड़सेवानन्दरूप इन्द्रियानन्दको ढूँढ़ते हैं, तब वे निश्चय ही भिखारी हैं। अतएव भिखारीसे परमानन्दकी आशा करना विडम्बना मात्र है। मानवमात्र ही कभी किसीकी सेवा करनेके लिए और किसी समय दूसरेके द्वारा सेवित होना चाहते हैं। कौन सेवक है और सेवा ग्रहण करनेकी योग्यता किसमें है, इस विषयमें सम्यक् ज्ञानके अभावके कारण सेवाप्रवृत्तिके उदयकालमें मनुष्य सेवक तत्त्वकी ही सेवा करने का प्रयास करते हैं और इस कारणसे यथार्थ रूपमें जो सेव्य हैं उनकी सेवासे वञ्चित हो जाते हैं। अन्धकारके दूर होने पर जिस प्रकार रज्जुमें सर्पका भ्रम नहीं रह जाता, उसी प्रकार सम्यक् ज्ञानके उदय होने पर सेव्य वस्तुकी ही सेवा होती है, दूसरे वस्तुओं की नहीं। जब तक यह भोक्तृ-भोग्यरूप तत्त्वभ्रान्ति दूर नहीं होती, तब तक मनुष्यके ज्ञानका विकास नहीं हो सकता। अतएव यत्नपूर्वक इस व्याधिको दूर करनेकी आवश्यकता है।

भारतवर्षमें छः प्रकारके दर्शनशास्त्र प्रधान माने गये हैं। इनके अलावा अनेक क्षुद्र क्षुद्र दर्शनशास्त्र इस देशमें और पाश्चात्य देशोंमें प्रकाशित हुए हैं। इन सभी दर्शन शास्त्रोंमें वेदान्त-दर्शन सत्यसिद्धान्त मूलक है जिसे समझनेके लिए आगे श्रीमद्भागवत का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। श्रीमद्भागवतका अध्ययन करने पर श्रीवेदान्त-दर्शनके निगूढ़ रहस्यको भलीभांति समझा जा सकता है। उस समय यह ज्ञान होता है कि श्रीभगवान ही एकमात्र सेव्य-तत्त्व हैं और अन्यान्य पदार्थ समूह उनके सेवक-तत्त्व हैं। ऐसे सत्यमूलक तत्त्वज्ञानके अभावमें परतत्त्व सम्बन्धीय दूसरे दर्शनोंको भ्रान्त-दर्शन कहना ही युक्तिसङ्गत है। इसलिए सत्सिद्धान्त-मूलक ज्ञानाग्निके द्वारा विरोधी सिद्धान्तोंको जला कर उन्हें अपने चित्तसे निकालना हमारा कर्त्तव्य है। केले और दूधसे कालसर्पको पालना बुद्धिमान व्यक्तिके लिए उचित नहीं है। भोक्ता बनकर भुक्तिवाद का आश्रम ग्रहण करनेसे अथवा भोगोंसे विरक्त होकर मुक्तिवादका आश्रय ग्रहण करनेसे कदापि कल्याण नहीं हो सकता।

जब मैं वास्तवमें श्रीभगवानका सेवक हूँ अर्थात् भोग्यतत्त्व हूँ, तब नकल भोक्ता बनकर भोगोंमें प्रमत्त होना मेरे लिए सर्वदा अनुचित है। अपने पुत्रादिका भोक्ता बनना भी अन्याय है और उनकी भोग-प्रवणतामें सहायता देना और भी ज्यादा अन्याय है। यदि सभी अपने-अपने सेवक रूपसे भगवत्सेवा करें, तो इस जगतका भोग्यभूमिके रूप में दर्शन न होकर शीघ्र ही वैकुण्ठ रूपमें दर्शन

होगा। उस समय भगवानको निवेदित अन्न व्यञ्जनादि द्रव्योंको महाप्रसादकी बुद्धिसे ग्रहण कर जीवन निर्वाह करना होगा अर्थात् उन्हें साधारण दाल-भात समझकर भोक्तृबुद्धिसे नहीं ग्रहण करना चाहिए। श्रीभगवानके उच्छिष्ट स्वीकाररूप कार्यको भक्तिशास्त्रोंमें हरिसेवाका अङ्ग बतलाया गया है। जो व्यक्ति अनिवेदित द्रव्य ग्रहण करते हैं, वे अभक्त हैं, क्योंकि भोक्तृ-बुद्धि ही ऐसे कार्यका मूल कारण है। पृथिवीमें जितने भी भोगोपयोगी सामग्री हैं, वे सभी द्रव्य एकमात्र भगवानके भोग्य हैं और अपने भोजन करनेके पश्चात् जो कुछ भी वे कृपा कर छोड़ दें, उसी अवशिष्ट उच्छिष्टको छोड़कर और किसी पदार्थमें सेवकोंका अधिकार नहीं है। अतएव जो व्यक्ति महाप्रसाद का सम्मान करते हुए भगवत्-सेवामें लगे हुए हैं, दिन प्रतिदिन वे ही व्यक्ति अपनी भक्तिलताको बढ़ानेमें समर्थ होते हैं, दूसरे नहीं। हरि ॐ तत्सत्।

—जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

[गताङ्कसे आगे]

१—सम्बन्ध-तत्त्वमें तीन विषयोंकी शिक्षा दी गई है— (क) जड़जगत या मायिक तत्त्व, (ख) जीव या अधीनतत्त्व और (ग) भगवान या प्रभुतत्त्व। भगवान एक और अद्वितीय हैं। वे सर्व शक्तिसम्पन्न हैं और सर्वाकर्षक हैं। वे ऐश्वर्य और माधुर्यके एकमात्र निलय हैं एवं माया और जीव शक्तिके एकमात्र आश्रय हैं। माया और जीवके आश्रय होते हुए भी वे सर्वदा एक स्वतंत्र तत्त्व हैं। उनकी अङ्गकान्ति सुदूरवर्त्ती होकर निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें प्रतिभात होती है। उनकी ऐसी शक्ति जगत और जीवकी सृष्टि कर अंशसे परमात्माके रूपमें जगत्प्रविष्ट ईश्वर-तत्त्व है। ऐश्वर्य प्रधान-प्रकाशके रूपमें वे परव्योम में नारायण हैं। माधुर्य-प्रकाशके रूपमें गोलोक वृन्दावनमें वे गोपीजनवल्लभ श्रीश्रीकृष्णचन्द्र हैं। उनके सभी प्रकाश और विलास नित्य और अनन्त हैं। उनके समान और कोई वस्तु ही नहीं है। उनसे अधिक की तो बात ही क्या है? उनकी पराशक्ति के प्रभावसे सभी प्रकाश और विलासकी उत्पत्ति है। पराशक्तिके विभिन्न विक्रमोंमें जीवोंके निकट तीन विक्रमोंका परिचय पाया जाता है। प्रथम चिद्-विक्रम है, जिसके द्वारा उनकी लीला सम्बन्धी सभी कार्योंका समाधान होता है। दूसरा जीव-विक्रम या तटस्थ-विक्रम है जिसके द्वारा अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति और स्थिति है। तीसरा माया विक्रम है, जिसके द्वारा जगतके सभी मायिक वस्तु, काल और कर्मकी सृष्टि हुई है। जीवका भगवानसे जो सम्बन्ध है, भगवानके साथ जीव और जड़का जो सम्बन्ध है और जड़के साथ भगवान और जीवका जो सम्बन्ध का नाम सम्बन्धतत्त्व है। सम्बन्ध तत्त्व भली प्रकार जान लेने पर सम्बन्धज्ञान होता है। सम्बन्धज्ञान-

हीन व्यक्ति कदापि शुद्ध वैष्णव कहे नहीं जा सकते।"

—जैवधर्म ४ था अ०

२—सम्बन्धज्ञ नयुक्त 'अहंता और ममता' क्या हेय है ?

"ए भक्तिविनोद कय, अहंता ममता नय,
श्रीकृष्ण सम्बन्ध अभिमाने।
सेवाय सम्बन्ध धरि, अहंता ममता करि,
तदितर प्राकृत विधाने ॥"

—यामुन भावावली, गी० मा०

अर्थात् श्रीकृष्ण सम्बन्ध अभिमानमें प्राकृत हेय अहंता ममता नहीं है। वहाँ श्रीकृष्ण-सेवा सम्बन्ध होता है।

३—आम्नाय किसे कहते हैं ?

"विश्वकर्मा ब्रह्मासे गुरु-परम्परा प्राप्त ब्रह्मविद्या नामक सभी श्रुतियोंको 'आम्नाय' कहते हैं।"

—श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा २ य प०

४. श्रीचैतन्य महाप्रभुकी मूल शिक्षा क्या है ?

"आम्नायः प्राह तत्त्वं हरिमिह परमं सर्वशक्ति रसाब्धिम्
तद्भिन्नांशांश्च जीवान् प्रकृतिकवलितान् तद्विमुक्तांश्च भावात्।
भेदाभेदप्रकाशं सकलमपि हरेः साधनं शुद्धभक्तं
साध्यं प्रीतिमेवेत्युपदिशति जनान् गौरचन्द्रः स्वयं सः ॥"

—'दशमूलनिर्यास,' सज्जनतोषणी ६।६

५—दशमूल किसे कहते हैं ?

दशमूलके अन्तर्गत एक प्रमाण और नौ प्रमेय हैं। प्रमाण एकमात्र आम्नाय वाक्य है और नौ प्रमेय हैं—(१) श्रीहरि ही परतत्त्व हैं; (२) वे (श्यामसुन्दर) सर्वशक्तिमान हैं; (३) वे ही श्यामसुन्दर परम रसमय या अखिलरसामृतसिन्धु हैं, संव्योम या परव्योम ही उनका धाम है; (४) जीव अनन्त हैं, वे चित्परमाणु और श्रीकृष्णके विभिन्नांश हैं और नित्यबद्ध और नित्यमुक्त भेदसे जीव दो प्रकार के हैं, (५) कृष्णबहिर्मुख जीव मायाबद्ध हैं; (६) शुद्धभक्त जीव मायामुक्त हैं; (७) जीव और जड़मय समस्त जगत् श्रीहरिके अचिन्त्यशक्ति-निसृत नित्य-भेदाभेद प्रकाश हैं; (८) नौ प्रकारके कृष्णभक्तिके अङ्ग ही अभिधेय तत्त्व है; और (९) कृष्णप्रेम ही प्रयोजन तत्त्व है।"

—"श्रुतिशास्त्र निन्दा", हरिनाम चिन्तामणि

६) तत्त्ववस्तु एक है अथवा बहुत है ?

"तत्त्वमेकमेवाद्वितीयम्—तत्त्ववस्तु एक ही है, दो नहीं।"

—'शक्तिमत्तत्त्व प्रकरण', आम्नायसूत्रम् २

(७) श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षाको कहाँ लिपि-बद्ध किया गया है ?

"श्रीमन्महाप्रभुजीकी शिक्षा दो ग्रन्थोंमें सुष्ठु रूपसे लिखा हुआ है, तत्त्वशिक्षा श्रीब्रह्मसंहितामें एवं भजन शिक्षा श्रीकृष्णकर्णामृत ग्रन्थमें दी गई है।"

—'विज्ञप्ति', कृष्णकर्णामृत

८—एकमात्र प्रमाण क्या है ? वेदका प्रतिपाद्य क्या है ?

"वेद शास्त्रमें विशुद्ध भक्ति की ही शिक्षा दी

गई है। वेदवादियोंके प्रकृति-दोषसे नानाप्रकार मतवाद, अनेक प्रकारके कर्म और ज्ञानकी उत्पत्ति हुई। वस्तुतः वेद ही मानवोंका एकमात्र प्रमाण और शिक्षा गुरु है। उसमें मतवादोंका प्रवेश कराकर शुद्धभक्ति शिक्षाको त्यागकर पृथक्-पृथक् मतोंका प्रचार हुआ है।"

—"प्रमाण निर्देश" भागवतार्क मरीचिमाला १।६

(९) सच्छास्त्र किसे कहते हैं ?

"एक अन्ध व्यक्ति दूसरे अन्ध व्यक्तिको पथ दिखाने पर दोनोंही कूपमें पतित होते हैं; उसी प्रकार असच्छास्त्रके प्रणेता और उनके अनुगामी सभी अन्ध व्यक्ति कुमार्गगत और शोचनीय हैं। सच्छास्त्र कहनेसे वेद और वेदानुगत शास्त्रोंको समझना चाहिए।"

—चैतन्य शिक्षामृत १।२

(१०) वेद क्या है ?

"किसी एक वेद-ग्रन्थको प्राप्त करनेसे ही सभी स्थानों उसे मानना होगा ऐसा नहीं। समय-समय पर सत्सम्प्रदायोंके आचार्योंने जिसे स्वीकार किया है, वही 'वेद' है और जिन्हें प्रक्षिप्त जानकर परित्याग किया है, वही हमारे लिए वर्जनीय है।"

—जै० ध० १३ वाँ अ०

(११) गीता, भागवत, सात्वत पञ्चरात्रादि शास्त्र, और वेदका श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी वाणीसे क्या पार्थक्य है ?

"गीता श्रीकृष्णका श्रीमुख-निःसृत वाक्य होने के कारण उसे 'गीतोपनिषद्' कह सकते हैं। अतएव वह 'वेद' है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी दशमूल शिक्षा भगवानकी वाणी है अतएव वह भी 'वेद' है। समस्त वेदार्थ सार-संग्रहस्वरूप श्रीमद्भागवत ही प्रमाण-चूड़ामणि है। अन्यान्य स्मृतिशास्त्रवचन अगर वेदानुगत हो, तो वे भी प्रमाण हैं। तन्त्रशास्त्र तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। 'पञ्चरात्र' आदि सात्त्विक तंत्र समूह गूढ़ वेदार्थ प्रकाश करनेके कारण 'तन्'—निस्तार करना इस धातुके अनुसार प्रमाण माने गये हैं।"

—जै० ध० १३ वाँ अ०

(१२) सद्गुरुका क्या लक्षण है ? क्या कुलगुरु स्वीकार करनेसे सद्गुरु आश्रय नहीं होता ?

"काल दोषसे गुरुके सम्बन्धमें मनुष्योंकी धारणा अत्यन्त दूषित हो गयी है। आजकल कुलगुरुके निकट अथवा जिस किसी व्यक्तिके निकट उपदेश ग्रहण करते हैं। इससे परमाराध्य सद्गुरुदेवका आश्रय नहीं हो सकता। शास्त्रोंमें कहा गया है कि शब्द ब्रह्म और परब्रह्ममें निष्ठा और आश्रय-प्राप्त गुरुके निकट आत्माकी सेवा-प्रवृत्तिको जाननेके लिए शरणागत होना चाहिए।"

—'पञ्च-संस्कार', स० तो० २।१

(१३) गुरु-पदका कौन वाच्य है ?

"परमार्थ-विषयमें जो कुशल हैं, वे ही गुरु होने योग्य हैं।"

—'गुर्वष्टक', द० चि०

(१४) उच्चवर्ण होनेसे गुरु करना क्या उचित

नहीं है ? हरिभक्तिविलासमें ब्राह्मण और गृहस्थको गुरुपदमें वरण करनेकी बात क्यों कही गयी है ?

"कृष्णतत्त्वज्ञान ही सर्वजीवोंका परमार्थ है। इस तत्त्वज्ञानका गुरु होनेका यही अधिकार-विचार है कि कृष्णतत्त्ववेत्ता ब्राह्मण अथवा शूद्र हो, गृहस्थ या संन्यासी हो, वे गुरु होने योग्य हैं। श्रीहरिभक्ति-विलासमें उच्चवर्ण योग्य-पुरुष रहते हुए हीनवर्णके व्यक्तिके निकटसे कृष्णमंत्र लेना उचित नहीं है—ऐसी बात जो कही गयी है, वह लोकापेक्षी वैष्णव-परता है। अर्थात् जो व्यक्ति संसारके प्रचलित विधि के अनुसार थोड़ा बहुत परमार्थका अनुशीलन करना चाहते हैं, यह उनके लिए है। परन्तु जो व्यक्ति वैधी और रागानुगा भक्तिका तात्पर्य जानकर विशुद्ध कृष्णभक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं, उनके लिए यही विधि है कि उपयुक्त कृष्णतत्त्ववेत्ता जिस किसी वर्ण या आश्रमके हों, उन्हें गुरु करना चाहिए।"

—अमृतप्रवाह भाष्य म० ८।१२७

(१५) गुरुत्व और सद्गुरु-चरणाश्रयमें क्या भेद है ?

गुरु दो प्रकारके—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। समाधिस्थ आत्मा ही आत्माका अन्तरंग गुरु हैं। जो व्यक्ति युक्तिको गुरु बनाकर उसके निकट उपासनाकी शिक्षा ग्रहण करते हैं, उन लोगोंने दुष्ट गुरु का आश्रय ग्रहण किया है। नित्यधर्मके पोषक रूपमें युक्तिकी छलना पूतनाकी छलनाके समान है। रागमार्गके उपासकोंको परमार्थ तत्त्वमें युक्तिका परित्याग कर आत्म-समाधिका आश्रय ग्रहण करना चाहिए। जिन व्यक्तिके निकट उपासना-तत्त्वकी शिक्षा ग्रहण की जाती है, वे बहिरङ्ग गुरु हैं। जो रागमार्गको जानकर शिष्यका अधिकार विचार पूर्वक परमार्थका उपदेश करते हैं, वे सद्गुरु हैं।"

—श्रीकृष्णसंहिता ८।१४

(१६) वैष्णव-मतानुसार जगद्गुरु कौन है ?

"वैष्णव-धर्ममें यही माना गया है कि जो व्यक्ति प्राकृत-अप्राकृत तत्त्वका भेद जानकर अप्राकृत कृष्ण शिक्षा लाभ किये हैं, वे सर्वजीवोंके उपदेष्टा हैं और इसमें वर्णादि और संस्कारगत आश्रमादिकी अपेक्षा नहीं है।"

—अ० प्र० भा० अ० ५।८४-८५

(१७) गुरुका एकमात्र स्वरूप लक्षण क्या है ?

"वर्णाश्रम-विचारको दूर रखते हुए जहाँ कृष्ण-तत्त्ववेत्ता मिले उन्हें ही गुरुके रूपमें ग्रहण करना चाहिए।"

—जै० ध० २० वाँ अ०

(१८) सद्गुरु शिष्यको क्या उपदेश प्रदान करते हैं ?

"वैष्णव-ग्रन्थोंमें सर्वत्र शुद्धज्ञानकी प्रशंसा है। श्रीमहाप्रभुजीकी शिक्षामें तीन विषयोंकी शिक्षा है—सम्बन्ध-ज्ञान, अभिधेय-साधन और प्रयोजन। भगवान क्या तत्त्व हैं, जीव क्या तत्त्व है और समस्त जड़-ब्रह्माण्ड क्या तत्त्व है और इन तीनों तत्त्वोंमें परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह भली प्रकारसे जानना ही सम्बन्ध-ज्ञान है। वे ही सद्गुरु हैं जो अपने शिष्यको सम्बन्ध-ज्ञानका सम्यक् उपदेश

प्रदान कर प्रयोजन साधनमें अभिधेयको दिखा देते हैं। इस सम्बन्ध ज्ञानको प्राप्त करने पर और किसी ज्ञानको प्राप्त करना बाकी नहीं रह जाता। जड़ ब्रह्माण्डमें जितने प्रकारके ज्ञान और विज्ञान हैं सभी को जाना जा सकता है।"

—'समालोचना', स० तो० ११।१०

(१६) दीक्षा-मंत्र-दाता गुरु और हरिनाम-प्रदाता गुरुमें क्या पार्थक्य है ?

"जो व्यक्ति नाम-तत्त्वकी शिक्षा देते हैं और नामकी सर्वोत्तमता स्थापन करते हुए नाम या नामात्मक मंत्र प्रदान करते हैं, वे ही नामगुरु हैं। दीक्षा गुरु ही नाम-गुरु हैं। मंत्र ही नाम है। मंत्रसे नाम को पृथक् करनेसे मंत्रत्व नहीं रहता। केवल नाम-उच्चारण करनेसे भी मंत्र उच्चारण होता है।"

—'गुर्वज्ञा' ह. चि.

(२०) शिष्य गुरुको किस रूपमें दर्शन करेंगे ?

"गुरुदेवको भगवत्स्वरूप जानना चाहिए, गुरु में कभी भी साधारण मर्त्यबुद्धि नहीं करनी चाहिए।"

—अ० प्र० भा० आ० १।४६

(२१) गुरुवर्ग उनकी अप्रकट लीलामें किस तरह जीवोंके प्रति कृपा करते हैं ?

"The souls of the great thinkers of the by gone ages, who now live spiritually, Often approach our enquiring spirit and assist it in its development."—The Bhagabat : Its Philosophy, its Ethics and Its Theology.

(२२) आचार्य किन्हें कहा जा सकता है ? गौड़ीय वैष्णवाचार्योंका क्या कार्य है ?

"जो व्यक्ति स्वयं आचरण कर धर्म शिक्षा देते हैं, वे ही आचार्य हैं। केवल वितर्क उत्पन्न कर सांसारिक उन्नति लाभ करनेसे आचार्यत्व प्राप्त नहीं होता। जिन्होंने गौड़ीय सम्प्रदायमें आचार्यपद लाभ किया है, उन्हें अपने सम्प्रदायके सभी अनर्थोंको दूर करनेकी चेष्टा करना चाहिए।"

—'श्रीमहाप्रभुके सम्बन्धमें वितर्क, स०, तो०, ४।१

(२३) आचार्य-सन्तानोंका क्या प्रधान कार्य है ?

"गौड़ीय-सम्प्रदायमें चार सौ वर्षके भीतर अनेक प्रकारके अनर्थोंका उदय हुआ है। उन सभी अनर्थोंको सम्पूर्णरूपसे दूर करना आचार्य सन्तानों का प्रधान कार्य है।"

—'श्रीमहाप्रभुके सम्बन्धमें वितर्क', स० तो० ४।१

(२४) आचार्य कैसे जीवोंकी श्रद्धाको जगाते हैं ?

"जो व्यक्ति आचार्य-पद ग्रहण करेंगे, उन्हें पहले स्वयं धर्मपथका अवलम्बन कर अन्य जीवोंको अपने सच्चरित्रके द्वारा आकर्षण कर श्रद्धा संग्रह करनी चाहिए ? आचार्य-पुरुषके सदाचारको सभी व्यक्ति आदरसे ग्रहण करते हैं।"

—"नामबलपर पाप-प्रवृत्ति एक नामापराध है"

स० तो० ८।६

(२५) कृष्ण बहिर्मुख या कपट व्यक्तिको क्या वैष्णवाचार्य-सन्तान कहा जा सकता है ?

"वैष्णव-मात्र ही हमारे प्रभु हैं। जहाँ भक्ति है, वहीं प्रभुता (गुरुत्व) है। वंश-मर्यादा भक्ति-तत्त्वका

अङ्ग नहीं है। किसी समय एक व्यक्तिने कहा था कि श्रीसीतानाथ अद्वैताचार्यके पुत्र अच्युतानन्दको छोड़कर और कोई गोस्वामी पदवाच्य नहीं हैं,, क्योंकि स्वयं सीतानाथने अपने अन्यान्य पुत्रोंको गौर-विमुख कहकर त्याग किया था। और किसी व्यक्तिने कहा कि श्रीश्रीवीरचन्द्र प्रभुके औरस-जात सन्तान न होने के कारण किसी को भी नित्यानन्द-सन्तान कहा नहीं जा सकता और खड़दहके गोस्वामियोंको प्रभु कहकर सम्बोधन करना उचित नहीं है। बाघनापाड़ाके गोस्वामियोंको भी प्रभु न कहना चाहिए, क्योंकि वे श्रीश्रीजाह्नवामाताके शिष्यमात्र हैं। ऐसे वितर्कोंको हम सुनना नहीं चाहते। हम सभी वैष्णवोंको ही कृष्णका स्वरूप समझकर पूज्य मानते हैं और आवश्यकतानुसार आचार्य वंशका यथायोग्य सम्मान करते हैं। कृष्णबहिर्मुख या धर्मान्तरग्राही होनेसे वंश-मर्यादा कदापि दे नहीं सकते। एक ईसाई व्यक्तिको ब्राह्मणोचित मर्यादा देना क्या उचित है? उसी प्रकार प्रभु-सन्तान होकर यदि कोई व्यक्ति स्वधर्म त्याग करें, तो वे वंश-मर्यादाकी आशा नहीं कर सकते।"

—'श्रीजीव गोस्वामी प्रभु', स. तो. २।१२

२६—भक्तिसिद्धान्तहीन पण्डित क्या आचार्य हैं?

"श्रीमन्महाप्रभुजीके जन्मके पूर्वसे ही देवानन्द पण्डित श्रीभागवतके व्याख्यामें 'आचार्य' के रूपमें विख्यात थे। महाप्रभुजीने स्वयं अध्यापक और भक्ति-प्रचारक होकर देवानन्दके पाठ और भक्ति-रहित व्याख्याको सुनकर बहुत ही असन्तुष्ट हुए थे। बहुत दिनके बाद इन्हीं देवानन्द पण्डितने श्रीवक्रेश्वर पण्डितकी कृपासे शुद्ध भक्ति-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त किया।"

—'श्रीमद्भागवताचार्य', स. तो ६।१२

२७—भक्तिसिद्धान्तविरुद्ध आचरणसे हानि क्या है?

"वैष्णवोंमें जो व्यक्ति भक्तिसिद्धान्तविरुद्ध आचरण करते हैं, वे सम्प्रदायके अनर्थके मूल हैं।"

—'श्रीमहाप्रभुजीके सम्बन्धमें वितर्क' स० तो० ४।१

२८—आचार्य या गुरुदेव यदि असत्सिद्धान्त की समालोचना करें, तो क्या वे प्रजल्पी न कहलायेंगे?

"शुकदेव शिष्योपदेशके लिये विषयी व्यक्तियों की चर्चा करके भी प्रजल्पी नहीं हुए। इसलिए ऐसे कार्यको हितकर समझकर ग्रहण करना चाहिए। श्रीमन्महाप्रभुजीने उपदेश देनेके लिये अपने अनुचरोंसे असत् वैरागीकी बात कही थी।"

—'प्रजल्प', स. तो. १०।१०

२९—आचार्योंमें क्या मतभेद है।

"स्व-स्वरूपस्थित आत्मा भारतमें बैठे जो कुछ कहेंगे, स्व-स्वरूप-स्थित अन्य आत्मा उत्तरकेन्द्रमें बैठकर वही कहेंगे। वैकुण्ठस्थित आत्मा वही उत्तर प्रदान करेंगे। क्योंकि शुद्ध आत्माओंके सिद्धान्तमें मायिक त्रिगुण नहीं है, अतएव उनके पृथक मत नहीं हो सकते।"

—तत्त्वविवेक, १ म अनु. २

३०—आचार्य क्या निर्विचार मंत्र दीक्षा प्रदान करते हैं?

"पूज्यपाद मन्त्राचार्य शास्त्रानुसार स्वयं सत्पात्र रहकर उपयुक्त पात्रको मन्त्र प्रदान करेंगे। इस विषयमें परस्पर परीक्षा विधि श्रीहरिभक्ति विलास में कहे जाने पर भी कार्यतः ऐसा नहीं होता। इस लिये गुरु-शिष्य दोनोंका ही पतन और साथ साथ सम्प्रदाय-विकार होना अनिवार्य हो गया है।"

—'श्रीमहाप्रभुके सम्बन्धमें वितर्क', स. तो. ४।१

३१—गृहस्थ वेष धारी व्यक्ति क्या आचार्य हो सकते हैं ?

"गृहस्थ भक्तोंमें जो नवधा भक्तिके आचरणमें कुशल हैं, वे ही व्यक्ति भक्तितत्त्वका आचार्यत्व ग्रहण करने योग्य हैं।"

—'आचार और प्रचार', स. यो. ४।१

३२—गृहस्थ वेषी आचार्य क्या संन्यास प्रदान करते हैं ?

"गृहस्थ भक्त जहाँ पर आचार्य होकर संन्यासके चिह्न और मन्त्रादि प्रदान करते हैं, वहाँ संन्यास-महीताका अमङ्गल होता है।"

—'आचार और प्रचार', स. तो. ४।२

३३—एकान्त सदाचारी आचार्य पर भी मनुष्य दोषारोप क्यों करते हैं ?

"सभी आचार्योंके आचार्य श्रीनित्यानन्द-प्रभु अवधूत होने पर भी अपने चरित्रमें उन्होंने कदापि दुराचार नहीं दिखलाया। ऐसे निर्मल चरित्रयुक्त प्रभुको जो व्यक्ति दुराचारी कहकर निन्दा करते हैं, उन्हें धिक्कार है। असदाचारी व्यक्ति आचार्य-चरित्रमें मिथ्या-दोषारोपकर अपने दोषोंको गुणोंके रूपमें दिखलानेकी चेष्टा करते हैं। हा कलि ! तुमने जो प्रतिज्ञा की थी, वही तुमने किया। अनेक व्यक्ति कपट वैष्णव बनकर श्रीनित्यानन्दजीको मत्स्य मांसाशी कहकर निन्दा करते हैं, धर्ममूर्ति श्रीमन्महाप्रभुमें योषित्सङ्गका दोषारोप कर उनकी नव-रसिकोंमें गणना करते हैं। निर्मल चरित्रवाले श्रीरूप गोस्वामी और श्रीरामानन्द आदि में मिथ्या-स्त्रीसङ्ग-दोष सृष्टि कर जगत्की वञ्चना करते हैं।"

'—नामबलपर पापप्रवृत्ति एक नामापराध है,'
स. तो. ८।६

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

सन्दर्भ-सार

(कृष्णसन्दर्भ-३)

जहाँ-जहाँ पर श्रीकृष्णके लिए 'अंशादि' शब्दका प्रयोग किया गया है, वहाँ गीताके "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः" श्लोकके द्वारा ऐसे प्रयोग की मीमांसा करना होगी। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि भगवान कृष्ण योगमाया-समावृत हैं, इसलिए सभी व्यक्तियोंके निकट उनका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता।

श्रीकृष्णके नामकरण-कालमें कृष्णके सम्बन्धमें गर्ग-ऋषिने "नारायणसमो गुणैः" कहा है। यहाँ पर माधुर्यावगाही नन्द-महाराजने "गुणैः नारायणस्य समः" अर्थात् गुणमें नारायणके समान ऐसा समझा, किन्तु गर्गजीका अभिप्राय—नारायणः समो यस्य अर्थात् 'नारायण जिनके समान' है। इससे यही जाना जाता है कि श्रीकृष्ण ही आश्रय-तत्त्व हैं, और नारायण आश्रित तत्त्व हैं।

दशम स्कन्धके ८९ अध्यायमें भूमापुरुषके वचन से यही प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण भूमापुरुषके अंश हैं, परन्तु वास्तवमें भूमापुरुष ही श्रीकृष्णके अंश हैं। इसी प्रसङ्गमें कहा गया है—

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा मायापनीता भुवि धर्मगुप्तये।
कलावतीर्णाविवनेर्भरासुरान् हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे॥

(भा० १०।८९।५८)

अर्थात् एक द्वारकावासी ब्राह्मणके सन्तान भूमिष्ट होनेके साथ मर जाते थे। उस ब्राह्मणने द्वारकामें जाकर कहा कि 'राजाके पापसे मेरे सन्तान मर जाते हैं।' अर्जुनने ब्राह्मणकी बात सुनकर यह प्रतिज्ञा की कि वे ब्राह्मणके भावी सन्तानकी रक्षा करेंगे और असमर्थ होने पर अग्निमें प्रवेश करेंगे। किन्तु सन्तान भूमिष्ट होनेके समय अर्जुनके द्वारा यथोचित व्यवस्था करने पर भी जन्मके साथ ही सन्तानका अपहरण हो गया। अर्जुनने यमालय और अन्यान्य स्थानोंमें उस ब्राह्मण-सन्तानको ढूँढ़ा। पर कहीं न पाकर वे अग्निमें प्रवेश करने लिए प्रस्तुत हुए। उस समय श्रीकृष्णने अर्जुनको लेकर सप्त द्वीप, सप्त समुद्र, लोकालोक, पर्वत और प्रकृतिके अष्ट आवरण तमः को भेदकर महाकालपुरमें प्रवेश किया। महाकालपुरमें स्थित भूमा पुरुषने यह कहकर उन ब्राह्मण पुत्रोंको अर्पण किया कि श्रीकृष्णार्जुनका दर्शन करने के लिये उन ब्राह्मणपुत्रोंका उन्होंने अपहरण किया। इन भूमापुरुषने श्रीकृष्णको अपना अंश कहा है, ऐसा सन्देह हो सकता है। इस सम्बन्धमें दो प्रकारसे विचार किया जा सकता है—पहले वाक्यकी बलवत्ता प्रदर्शन दूसरा महाकालपुरस्थ भूमापुरुष द्वारा कहे गये श्लोकका वास्तविक अर्थ प्रकाश। शास्त्र शासनात्मक हैं। उपदेश प्रदानके द्वारा जो शिक्षा दी जाती है, उसे शासन कहते हैं। उपदेश दो प्रकारका होता है—(१) साक्षात् एवं (२) अर्थान्तर (दूसरे अर्थ) द्वारा। साक्षात् उपदेशको श्रुति कहते हैं। निरपेक्ष रूपसे जो उपदेश दिया जाता है, वही श्रुति है। इस-

लिए श्रुतिको निरपेक्षरवा कहते हैं क्योंकि श्रुतिके द्वारा जो कहा जाता है, वह सबकी अपेक्षा बलवान है।

पूर्वमीमांसाकी रीतिके अनुसार समस्या द्वारा अर्थात् आख्यायिका द्वारा उपदेश श्रुतिके अर्थको दूरमें प्रतीत करानेके कारण अर्थबोधके अप्रधान्यता के हेतु श्रुतिद्वारा समाख्या नहीं हो सकता। श्रीमद्-भागवतमें महाकालपुराख्यान समाख्या है। शौनक ऋषिका सूत गोस्वामीके प्रति साक्षात् उपदेश—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयं"—इस श्रुतिके द्वारा समाख्या द्वारा कहे गये महाकालपुर प्रसङ्गोक्त श्रीकृष्णके अंशत्वका खण्डन होता है।

'तुम लोग मेरे अंश हो और पृथिवीके भारस्वरूप हुए असुरोंका वध करनेके लिए अवतीर्ण हुए हो। उस कार्यको सम्पन्न कर मेरे निकट आगमन करना।' भूमापुरुषके इस वाक्यको क्या श्रुति कहा जा सकता है? नहीं, ऐसा कहा नहीं जा सकता। क्योंकि (१) श्रीकृष्ण सर्वज्ञ हैं इसलिए भूमापुरुषको वक्ता और अपनेको श्रोतारूपमें कल्पना कर उनका वहाँ जाना उचित नहीं जान पड़ता। (२) 'तुम लोगों का दर्शन करनेके लिए सभी ब्राह्मणकुमारोंको यहाँ मैं लाया हूँ'—भूमापुरुषके इस वाक्यसे कार्यान्तर देखा जाता है। (३) श्रीकृष्णार्जुनके रूप-माधुर्य-श्रवणसे मोहित होकर ही दर्शनकी आकांक्षासे ब्राह्मण कुमारोंका अपहरण किया था, श्रीकृष्णको तत्त्व-उपदेश करनेके उद्देश्यसे नहीं।

जो व्यक्ति इन सभी युक्तियोंसे सन्तुष्ट नहीं होते, स्वीकार्य विषयको स्वीकार कर यथार्थताके द्वारा श्रीकृष्णको भूमापुरुषकी अपेक्षा अपूर्ण स्वीकार करने पर भी तात्पर्य-समाधान नहीं होता। क्योंकि सभी अवतार अपने-अपने स्वरूपसे अपने-अपने नित्य-धाममें नित्य अवस्थान करते हैं, और कदापि अंशी में प्रवेश नहीं करते। किसी-किसी व्यक्तिके मतानुसार श्रीनारायण ही स्वयं भगवान हैं और श्रीकृष्ण अंश हैं। इसलिए 'तुम लोग नरनारायण ऋषि हो, शीघ्र ही मेरे निकट आगमन करना'—इस वाक्यका यथाश्रुत अर्थ भी विरुद्ध होता है। एकबार कह रहे हैं कि 'तुम लोग शीघ्र मेरे निकट आगमन करो', और दूसरी बार कह रहे हैं कि 'तुम लोग नरनारायण ऋषि हो, धर्मका आचरण करो।' इन दो उपदेशोंमें परस्पर विरोध देखा जाता है। यह प्रसिद्ध है कि बदरिकाश्रममें श्रीनर-नारायण ऋषिका नित्य अवस्थान है। इसलिए यदि श्रीकृष्णार्जुन नरनारायण होते, तो वे भूमापुरुषके पास जा नहीं सकते थे। भूमापुरुषके अंश होने पर अपने अप्रकट समय में उनमें प्रवेश कर जाते और नर-नारायण ऋषिके रूपमें नहीं रह जाते। यदि श्रीकृष्णार्जुन भूमापुरुष के अंश होते तो विशेषकर यह उस समयकी है। जो सर्वदा सभी वस्तुओंका दर्शन करते हैं, वे भूमापुरुष दूरसे ही श्रीकृष्णार्जुनका दर्शन कर सकते थे। किन्तु 'मैं तुम लोगोंका दर्शनेच्छु हूँ', इस वाक्यमें सर्वदा व्यभिचार देखा जाता है। श्रीकृष्ण यदि दर्शन दें, तो दर्शन करनेमें समर्थ हो सकते हैं—यही स्थिर होता है। श्रीकृष्णार्जुनको वे अपनी इच्छानुसार दर्शन नहीं कर सकते, इसलिए वे उनके अंश हो नहीं सकते। इससे भूमापुरुषकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी अधिक शक्तिमत्ता प्रतिपादित होती है।

दूसरा सन्देह यह है कि भूमापुरुषकी ज्योतिका दर्शन कर अर्जुनने आँखें बन्द कर लिये और भूमा-पुरुषको देखकर उन्हें शान्ति मिली। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि भूमापुरुषके अंशी श्रीकृष्णका जो सर्वदा दर्शन करते हैं, उन अर्जुनकी ऐसी अवस्था क्यों हुई? इसका उत्तर यही है कि स्वयं भगवान श्रीकृष्णने महाकालपुरमें गमनलीला और अर्जुनके साथ कौतुक करनेके लिये जितनी शक्तिकी आवश्यकता थी, उतना उन्होंने प्रकाश किया था। अन्यान्य अनन्त शक्तिके आश्रय होने पर भी उन्हें उन्होंने गोपनमें रखा। इसलिए अर्जुनके द्वारा तेज के आधिक्यका दर्शन युक्ति-विरुद्ध नहीं है। लीलाओं में ऐसे बहुतसे कार्य हैं, जिनमें पूर्ण शक्तिके विकाश का अभाव देखा जाता है। किसी किसी युद्धमें श्रीकृष्ण प्राकृत व्यक्तिकी तरह पलायन करते हैं अथवा पराभवको प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्णने भूमा-पुरुषको भक्तिभावसे प्रणाम किया—यहाँ सन्देह होता है। इसका उत्तर यही है कि श्रीकृष्णने जो भक्ति प्रदर्शन किया, वह नरलीलाका कौतुक-विशेष हैं। श्रीरुद्र, नारदादि ऋषियोंके प्रति भी ऐसी लीला देखी जाती है। ऐसी लीला द्वारा श्रीकृष्णका हीनत्व प्रकाशित नहीं होता, बल्कि यह नरलीलाका वैशिष्ट्यमात्र है। वे अपनी स्वेच्छासे लीला करते हैं। उनका कोई नियन्ता नहीं है।। वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—गोवर्द्धन-पूजाकी लीलामें गोपोंको विस्मित करनेके लिये श्रीकृष्णने दिव्यमूर्त्ति धारण कर अपने आपको प्रणाम किया था। उसी प्रकार अर्जुनको विस्मित करनेके लिये महाकालपुरमें उन्होंने अपने आपको नमस्कार किया और इस मूर्त्तिसे सभी बातें कहीं थी। गोवर्द्धन पूजाका यह प्रसङ्ग भागवतके १०।२४।३६ श्लोकमें हैं। गोवर्द्धनरूप अपनेको व्रजवासियोंके साथ आप ही प्रणाम किया था। यहाँ भी भागवतके १०।८६।५७ श्लोकमें यही कहा गया है। गोवर्द्धन पूजामें श्रीकृष्ण आप ही कर्त्ता, कर्म, और करण हैं। यहाँ भी यही जानना चाहिये। हरिवंशमें श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—हे अर्जुन! तुमने जिस तेजको देखा, वह और कुछ नहीं, मेरा ही सनातन तेज है।

महाकालपुरमें गमन उपाख्यानमें महाकालपुरुष को पुरुषोत्तमोत्तम कहा गया है। उसका अर्थ है—जीव-पुरुष हैं, पुरुषोत्तम उनके अन्तर्यामी हैं, वे अन्तर्यामी पुरुष महाकालपुरुषके अंश होनेके कारण वे पुरुषोत्तमोत्तम हैं।

श्लोकोक्त 'कलावतीर्णौ' का अर्थ 'कलासे अवतीर्ण' हैं, कला कहनेसे मायिक प्रपञ्च, उसमें अवतीर्ण ही 'कलावतीर्णौ'। कला मायिक प्रपञ्च है, यह श्रुतिप्रसिद्ध है—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"। इसका मध्यपदलोपीकर्म-धारय समाससे 'कलायुक्त होकर अवतीर्ण' अर्थ होता है।

सम्बोधन करनेके पश्चात् करते हैं—तुम लोग बाकी असुरों का बध कर मेरे निकट शीघ्र भेजना। श्रीकृष्ण हतारिगतिदायक हैं, इसलिये असुरोंकी मुक्तिके लिए श्रीकृष्णके समीप प्रार्थना की गई है। महाकालपुरमें मुक्तपुरुष अवस्थान करते हैं। 'त्वरयेतं' शब्दमें त्वर धातुका उत्तर बिधि लिङ्ग यातम् प्रत्यय हुआ है। 'अस्ति' शब्द चतुर्थ विभक्ति-

युक्त है। अव्यय शब्द होनेके कारण यहाँ विभक्तिका लोप हुआ है। चतुर्थमें चतुर्थी विभक्ति है। जैसे "ऐधेभ्यो व्रजति"—का अर्थ है—'काष्ठ आहरण करनेके लिये जा रहा है'। श्लोकोक्त 'असुरान्' शब्द 'असुरोंका वध करो, और 'समीपस्थ करो' दोनों क्रियाओंके साथ है।

उक्त श्लोकमें भूमापुरुषने कहा है—तुम लोग सर्वश्रेष्ठ हो, पूर्णकाम नर नारायण ऋषि होकर भी सृष्टिकी रक्षाके लिये महत् व्यक्तियोंका आचरण धर्माचरण कर रहे हो। वास्तविक अर्थ—आप लोग श्रीकृष्णार्जुनरूपमें केवल लोकहितकर कार्य ही नहीं कर रहे हैं, वैभवान्तरद्वारा भी आप लोकहितमें रत हैं। भूमापुरुष इन वाक्यों द्वारा उनका स्तव कर रहे हैं।

श्रीकृष्णदर्शनाभिलाषी भूमापुरुषका द्विजपुत्र हरण तात्पर्य यह है—श्रीकृष्ण धार्मिक-शिरोमणि हैं, वे द्विजपुत्रोंके लिये अवश्य आवेंगे, उस उपलक्ष में उनका दर्शन मिलेगा इसलिये द्विजपुत्रोंको लानेसे मेरी अभीष्टसिद्धि होगी। उनके निकट श्रीकृष्णका कोई प्रयोजन नहीं था और श्रीकृष्ण उनसे अधिक शक्तिशाली होनेके कारण भूमापुरुषकी इच्छामात्रसे श्रीकृष्णको उनके धाममें ला नहीं सकते थे। इसी विचारसे उन्होंने ब्राह्मण-पुत्रोंका अपहरण किया था। हरिवंशमें श्रीकृष्णके वाक्यमें यह स्पष्ट ही वर्णित है—मेरे दर्शनके लिए उन्होंने उन बालकोंको मारा था। भूमापुरुषका अभिप्राय था—

ब्राह्मणोंके लिये श्रीकृष्ण अवश्य ही आवेंगे। "द्विजात्मजा" श्लोकमें 'आचरतां' पद—आचर-शतृ प्रत्यय योगमें निष्पन्न होकर षष्ठीविभक्तिका बहुवचनान्त पद है। निर्द्धारणमें षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त है। इसलिये नियोगार्थमें लोट् प्रयोगमें 'आचरतां' यह अर्थ करना नितान्त असङ्गत है।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत

तृतीय वृष्टि (द्वितीय धारा)

भक्ति अनुशीलन करनेकी विधि

वर्णाश्रम-धर्ममें स्थित होकर जीवन-यात्राका निर्वाह करते हुए श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें चित्तको लगानेके लिये वैध भक्त सदैव यत्न करेंगे। इसीको भक्तियोग कहते हैं।* वैध भक्तोंके लिये भगवदनुशीलन ही कर्त्तव्य है। भगवदनुशीलन पाँच प्रकारके हैं—

(१) शरीरगत अनुशीलन, (२) मनोगत अनुशीलन, (३) आत्मगत अनुशीलन, (४) प्रकृतिगत अनुशीलन और (५) समाजगत अनुशीलन।

इन पाँच प्रकारके भगवदनुशीलनोंकी क्रमशः व्याख्या की जायगी। सबसे पहले शरीरगत अनुशीलनकी व्याख्या की जारही है।

(१) शरीरगत अनुशीलन

शरीरगत अनुशीलन सात प्रकारके हैं। सभी ज्ञानेन्द्रियाँ इसके अन्तर्गत हैं। सात शरीरगत अनुशीलन ये हैं—

(१) श्रवणगत अनुशीलन, (२) कीर्तनगत अनुशीलन, (३) आघ्राणगत अनुशीलन, (४) दर्शनगत अनुशीलन, (५) स्पर्शगत अनुशीलन, (६) स्वादगत अनुशीलन, (७) अंगगत अनुशीलन।×

[क] श्रवणगत अनुशीलन—यह तीन प्रकारका होता है—(१) शास्त्र श्रवण, (२) भगवन्नाम और भगवद्विषयक संगीत श्रवण और (३) भक्तिपूर्ण भाषण श्रवण। भगवत्तत्त्व-विचार, भगवल्लीला

---

* सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गञ्च साधुषु। दयां मैत्रीं प्रश्रयञ्च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥
शौचं तपस्तितिक्षाञ्च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसांच समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्। विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि। मनोवाक्कर्मदण्डञ्च सत्यं शमदमावपि॥
श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः। जन्मकर्मगुणानांच तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्। दारान् गृहान् सुतान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ११।३।२३-२८)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्याप्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९।२६)

× श्रद्धामृतकथायां मे शश्वदनुकीर्तनम्। परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिस्तवनं मम॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्। मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्। मय्यर्पणञ्च मनसः सर्वकाम विवर्जनम्॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च। इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदनात्। मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥
(श्रीमद्भा० ११।१९।२०-२४)

आदि वर्णनरूप श्रीमद्भागवत शास्त्र, वैष्णवोंके जीवन-चरित्र और वैष्णव जगत्के पौराणिक इतिहास आदिके श्रवणको शास्त्र-श्रवण कहा जाता है। हमारे पूर्वाचार्योंने वेदान्तादि शास्त्रोंके प्रमाणोंके बल पर अवैष्णव सिद्धान्तोंका खण्डन करते हुए जिन तत्त्वग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं, उनका श्रवण करना एक प्रधान भगवदनुशीलनका कार्य है भगवद्भक्ति ही समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य है। किसी शास्त्रका तात्पर्य क्या है—यह निर्णय करनेके लिये छः लिङ्गों (लक्षणों) का विचार देखना चाहिये। ये छः लिङ्ग हैं—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता-फल, अर्थवाद और उपपत्ति। इन छः लिंगोंद्वारा निर्दिष्ट हरिभक्ति ही सर्वप्रकारके वैदिक शास्त्रोंका तात्पर्य है।

जो संगीत केवल इन्द्रियोंकी तृप्तिके उद्देश्यसे न होकर भगवानकी लीला-कथाओंसे पूर्ण हो तथा भक्तिवृत्तिको बढ़ानेवाला हो, केवल ऐसे संगीत-वाद्यादिका ही श्रवण करना चाहिये। जो संगीत साधारणतः कर्णेन्द्रिय और विषयाभिभूत चित्तके विषयरागकी समृद्धि करता है, उसका दूरसे परित्याग करना चाहिये। सेवाकालीन गीत-वाद्य और वन्दना आदिको सुनना चाहिये।

[ख] कीर्त्तन गत पाँच प्रकारके अनुशीलन—कीर्तनगत अनुशीलन अतिशय उत्कृष्ट है। पूर्वोक्त विधिके अनुसार शास्त्रकीर्तन, नामलीला आदि कीर्तन, स्तवपाठ रूप कीर्तन, विज्ञप्ति और जप—ये पाँच प्रकारके कीर्तन हैं। नामलीलादि कीर्तन—भाषण, कथा, व्याख्या और गीत द्वारा होता है। विज्ञप्ति तीन प्रकारकी होती है—प्रार्थनामयी, दैन्य-बोधिका और लालसामयी। मंत्रके अत्यन्त लघु उच्चारणका नाम जप है।

[ग] आघ्राणगत अनुशीलन—भगवानको अर्पित पुष्प, तुलसी, चन्दन, धूप, माल्य और कर्पूर आदि गन्ध द्रव्योंको सूँघ कर घ्राणेन्द्रिय द्वारा भगवदनुशीलन करना चाहिये। अनिवेदित गन्धको सूँघने से केवलमात्र तुच्छ इन्द्रियोंका विषय-राग वर्द्धित होता है। इसका यत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिये।

[घ] दर्शनगत अनुशीलन—श्रीमूर्त्ति-दर्शन, उनकी कृपादृष्टि लाभ, भगवद्भक्त दर्शन, भगवत् तीर्थोंका दर्शन, भगवानका मन्दिर दर्शन, यात्रा (लीला-अभिनय) आदि दर्शन, भगवत्-तत्त्वका स्फुरण करानेवाले चित्रोंके दर्शनसे दर्शनगत अनुशीलन करना कर्त्तव्य है। दर्शनेन्द्रियकी वृत्ति जीवको बहिर्मुख रूपादि दर्शन द्वारा विषमय विषय कूपमें फेंक देती है। इसलिये इसका सावधानीसे परित्याग करना चाहिये। संसारमें जो कुछ भी देखा जाय, उसमें भगवत् सम्बन्ध मिश्रित कर लेना चाहिये।

[ङ] स्पर्शगत अनुशीलन—त्वचा द्वारा स्पर्श किया जाता है। वैध भक्तोंका यह कर्तव्य है कि वे बहिर्मुख शरीर या पदार्थोंका स्पर्श न करें, बल्कि सेवाके समय भगवन्मूर्ति-स्पर्शका आनन्द प्राप्त करें। उन्हें भगवद्भक्तोंके स्पर्श और आलिङ्गन द्वारा अनिर्वचनीय सुख प्राप्त करना चाहिये। स्पर्श-इन्द्रिय प्रबल होती है। उससे असत्संग, स्त्रीसंग आदि पाप होने की सर्वदा संभावना रहती है। भक्तजन इस विषयमें इस प्रकार दृढ़ प्रतिज्ञ होंगे कि जैसा भी सम्बन्ध क्यों न हो भगवद्भक्तोंके अतिरिक्त दूसरों

का स्पर्श न करेंगे। केवलमात्र शरीरसे छू जाने को ही स्पर्श नहीं कहा जा सकता, बल्कि शरीरके साथ संलग्न होने पर जो इन्द्रिय-सुखोदय होता है, उसी को स्पर्श कहते हैं। केवल स्पर्शेन्द्रियके सम्बन्धमें ही नहीं, सभी इन्द्रियके कार्योंके सम्बन्धमें यही नियम स्मरण रखना कर्त्तव्य है।

[च] स्वादगत अनुशीलन—स्वादगत अनुशीलन दो प्रकारके हैं—प्रसाद आस्वादन और श्रीचरणामृत आस्वादन। भक्तजन भगवत्प्रसादके अतिरिक्त और कुछ भी आस्वादन न करेंगे। बहिर्मुख पदार्थोंको अर्थात् भगवानको बिना समर्पण किये हुए पदार्थों का भोजन-पान करनेसे क्रमशः बहिर्मुखता प्रबल हो पड़ती है। भगवत्प्रसाद और भगवद्भक्त प्रसाद—ये दोनों ही आस्वादन योग्य हैं तथा भक्तिवृत्तिको पुष्ट करनेवाले हैं।

[छ] अंग-गत अनुशीलन—अंगगत अनुशीलन बारह प्रकार के हैं—(१) ताण्डव, (२) दण्डवत् प्रणाम, (३) अभ्युत्थान, (४) अनुव्रज्या, (५) अधिष्ठानस्थानोंमें गमन, (६) परिक्रमा, (७) गुरु और वैष्णवोंकी सेवा, (८) श्रीमूर्तिकी सेवा, (९) अर्चन, (१०) भगवद्भावमिश्रित पुण्यजलमें स्नान, (११) वैष्णव चिह्न धारण और (१२) हरिनामाक्षर धारण। 'ताण्डव' का अर्थ नृत्य है। साष्टांग दण्डवत् प्रणाम द्वारा नति करना उचित है। श्रीविग्रह या भगवद्-भक्तको देखते ही उठकर सम्मान करनेका नाम—अभ्युत्थान है। पीछे-पीछे चलनेका नाम अनुव्रज्या है। श्रीमन्दिर, भगवत्तीर्थ, वैष्णव-स्थान आदि अधिष्ठान-स्थान कहलाते हैं। ऐसे पवित्र स्थानोंमें गमन करना चाहिये। विभिन्न प्रकारके उपकरणों द्वारा भगवानकी पूजाको अर्चन कहते हैं। भगवद्-भावमिश्रित गङ्गा और यमुना आदिमें स्नान करना चाहिये। आचार्यप्रदत्त तिलक माला आदि वैष्णव-चिह्नोंको धारण तथा शरीर पर चन्दन द्वारा हरिनामाक्षरको अङ्कित करना चाहिये।

इस प्रकार नानाप्रकारके शरीरगत भगवदनुशीलन वैधभक्तोंके कर्तव्यके रूपमें निर्द्धारित हुए हैं। बद्धजीव शरीरी हैं; अतएव जबतक शरीर रहे तबतक यह ध्यान रखना चाहिये कि इस शरीरसे ऐसे कर्म न किये जाँय जिससे भगवद्बहिर्मुखता बढ़े तथा शरीरके लिये आवश्यक जितने भी कार्य किये जाँय, वे सभी भगवद् भाव मिश्रित हों। भगवद्भावमिश्रित कार्योंसे भगवद् अनुशीलन पुष्ट होता है।

(२) मनोगत अनुशीलन

पाँच प्रकारके मानसिक अनुशीलन—शरीरगत सभी आलोचनाओंमें मनकी क्रिया होती है। परन्तु मनके कुछ ऐसे भी कर्म हैं, जो शरीर पर व्यक्त नहीं भी हो सकते हैं। इन विशेष क्रियाओंको मनोगत क्रिया' कहते हैं। स्मृति, चिन्ता, चित्तकी नम्रता, भाव, जिज्ञासा और ज्ञान संग्रह—इनको शुद्ध मनोगत कार्य स्थिर करके मनोगत अनुशीलनको पाँच भागों में विभक्त किया गया है—

(१) स्मृति (२) ध्यान, (३) शरणापत्ति, (४) दास्य और (५) जिज्ञासा।

स्मृति दो प्रकारकी होती है—नाम-स्मृति और मन्त्र-स्मृति। तुलसीमाला पर संख्या रख कर जो हरिनाम किया जाता है, उसे 'नाम-स्मृति' कहते हैं।

अँगुलियों पर गिनकर जो मन्त्र स्मरण किया जाता है, उसे मन्त्र-स्मृति (क) कहते हैं। स्मृति और ध्यान में यह अन्तर है कि स्मृतिमें नाम मन्त्र, रूप, गुण और लीला कभी-कभी उदय होते हैं। परन्तु ध्यान में रूप, गुण और लीलाका सुष्ठुरूपसे चिन्तन हुआ करता है। ध्यानको अधिक समय तक रखनेका नाम धारणा है। जब ध्यान प्रगाढ़ रूपमें होने लगता है, तब उसे निदिध्यासन कहते हैं, अतएव धारणा और निदिध्यासन, ध्यानके ही क्रोड़ीभूत व्यापार हैं। शरणापत्ति भी मनोगत कार्य विशेष है। सब प्रकार के धर्माधर्मोंका विसर्जन देकर भगवानके शरणागत होना एक विशेष भक्ति (ख) है। वैधभक्तोंका इतना दूर अधिकार नहीं होता, परन्तु भगवान ही एकमात्र आश्रय हैं—ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धिका होना ही उनके लिये शरणापत्ति है। वे कर्म और ज्ञानका भरोसा नहीं करते। 'अपनेको भगवानका दास समझना' भी एक मानसिक भाव है (ग)। वैध भक्तजन दास्यरसका सम्पूर्णरूपसे आस्वादन नहीं कर पाते। जिज्ञासा—भक्तोंका एक प्रधान कार्य है (घ)। जिस समय भगवत् तत्त्वकी जिज्ञासा हृदयमें उदित होती हैं, उस समय सर्वप्रथम गुरु-पदाश्रय, तदनन्तर दीक्षा और अन्तमें भजन-प्रक्रिया की शिक्षा होती है। तत्त्व-जिज्ञासाके बिना बद्ध जीवका परम कल्याण नहीं हो सकता। भक्तिशास्त्रों में धर्म-जिज्ञासाको एक प्रधान अङ्ग बतलाया गया है।

(३) आत्मगत अनुशीलन

आत्मगत अनुशीलन छः प्रकारके होते हैं—

(१) सख्य, (२) आत्मनिवेदन, (३) भगवानके लिये अखिल चेष्टा, (४) प्रयोजनमात्र विषय स्वीकार, (५) भगवानके लिये अपना भोग-सुख परित्याग, और (६) साधुवर्त्मानुवर्त्तन।

वैधभक्तोंके सम्बन्धमें जिस आत्माका परिचय पाया जाता है, वह जड़मुक्त आत्मा नहीं है। विशुद्ध आत्मा प्राकृत अहङ्काररहित होती है। वैधभक्तोंकी आत्मा जड़से मुक्त होनेका उपक्रम कर रही है। अतएव उनका प्राकृत (जड़ीय) सम्बन्ध कुछ-कुछ शिथिल होने पर भी प्राकृत अहंकार दूर नहीं

(क) ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशित चेतसाम्।
(गीता १२।६-७)

(ख) सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।
(गीता १८।६६)

(ग) मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(गीता १८।६५)

(घ) भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता १८।५५)

हुआ होता (क)। ऐसी अवस्थामें स्थित आत्मा वैधी-भक्तिका साधन करते समय आत्म सम्बन्धीय एक विशेष भावकी आलोचना करती है, उसी आलोचनाका नाम ही आत्मगत भगवदनुशीलन है। सबसे पहले भगवान अत्यन्त प्रियसखा मालूम पड़ते हैं, परन्तु यह सख्य रसगत-सख्यसे पृथक् है। यही सख्य रसगत सख्यका बीजस्वरूप है।

शरणागत जीव भगवानके चरणोंमें सर्वस्व समर्पण करते हैं। जो कुछ मेरा है, उसे सम्पूर्ण-रूपसे भगवानके चरणकमलोंमें समर्पण कर दिया-ऐसा मान कर अपनी रक्षाके लिये तनिक भी प्रयास नहीं करते। उस समय शरीर और मनसे जो कुछ भी चेष्टा करते हैं, उन सबको केवल भगवानके उद्देश्यसे ही करते हैं। उनकी स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, अर्थ, सम्पत्ति और मन—इन सबको भगवत् सेवाका उपकरण समझते हैं। सब कुछ भगवानका है; सभी विषयोंके मालिक भगवान हैं और मेरे लिये जो अत्यन्त आवश्यक है, उसे मैं भगवत् सेवाके लिये उपयुक्तताकी प्राप्तिके लिये आवश्यकतानुसार प्रसादके रूपमें ग्रहण कर रहा हूँ; इसके अतिरिक्त द्रव्य मैं ग्रहण नहीं करूँगा—उस समय मनमें ऐसा ही भाव उठता है। उस समय भक्ति साधक भगवान के लिये अपना भोग त्याग कर देते हैं तथा प्राचीन भक्तोंने जिस साधुवर्त्म—भक्तिपथको स्वीकार किया है, उसी पर अपनी शक्ति भर चलनेके लिये प्रयास करते हैं।

(५) देश काल और द्रव्यगत भगवदनुशीलन

वैधभक्त शरीर, मन और आत्माद्वारा भगवदनुशीलन करके ही सन्तुष्ट नहीं होते; क्योंकि वे इसके अतिरिक्त आवरणस्वरूप एक प्राकृत जगतको भी देख पाते हैं। वे ऐसा कहते हैं कि मेरा यह शरीर और इस शरीरके अन्तर्गत स्थित मन और आत्मा इस जगतके एक अत्यन्त क्षुद्र अंश हैं। सम्पूर्ण जगत् मेरे प्रभुका गुणगान करे। मैं अपने बाहर चारों ओर जो असीम काल और असीम देश देख रहा हूँ और वस्तुस्वरूप नानाप्रकारके द्रव्योंको देख रहा हूँ वह सब कुछ मेरे प्रभुकी पूजाकी सामग्री हो जाय। प्रभु मेरे सामने सर्वत्र नृत्य करें और विश्व की हरएक वस्तु उनकी उपासनामें नियुक्त हो। इस भावनासे आर्द्र होकर वे देश, काल और द्रव्यगत भगवदनुशीलनमें प्रवृत्त होते हैं। प्रकृतिगत अनुशीलन दो प्रकरके हैं-(१) देशगत अनुशीलन (ख)

(क) विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(गीता १८।५२-५४)

(ख) अथ देशान् प्रवक्ष्यामि धर्माविध्येय आवहान्। न यत्र पुण्यतमो देशः सत्पात्र यत्र लभ्यते॥

(भा. ७।१४।२७)

(२) कालगत अनुशीलन (क) और (३) द्रव्यगत अनुशीलन (ख)।

देशगत अनुशीलन—वैष्णव-तीर्थोंमें भ्रमण, भगवदधिष्ठानादि स्थानोंमें गमन, वैष्णव-स्थानों (उनके गृह, भजन-स्थल, उनकी समाधि आदिस्थल) के दर्शनोंके लिये गमन—ये तीन प्रकारके देशगत अनुशीलन हैं। द्वारका, पुरुषोत्तम, कांची, मथुरा-मण्डल, श्रीनवद्वीप-मण्डल आदि वैष्णव तीर्थ हैं। इन स्थानोंमें भगवानकी जो-जो लीलाएँ सुनी जाती हैं, उनके प्रति श्रद्धालु होकर इन तीर्थोंमें भ्रमण करना चाहिए अथवा उनमेंसे किसी तीर्थमें वास करना चाहिये। भगवत् चरणामृतरूपा गङ्गा और भगवत्-सेवा-परायणा यमुना आदि तीर्थजलोंमें श्रद्धापूर्वक स्नान करना चाहिये। जिन-जिन स्थानों में भगवानके अर्च्चावतारूप श्रीमूर्तिकी सेवा-पूजा होती है, उन-उन स्थानोंमें गमन करना चाहिये। परम भगवद्भक्तोंके गृह, ग्राम और उनकी भजन तथा समाधि आदि स्थानसमूह वैष्णवोंद्वारा सर्वदा आश्रय ग्रहण करने योग्य हैं। श्रीचैतन्यदेवके पार्षद महात्माओंकी जन्मभूमि तथा उनकी भजन स्थलियों को श्रद्धापूर्वक दर्शन करना चाहिये। इन तीर्थस्थानों में गमन करनेसे अथवा वहाँ निवास करनेसे प्रति-दिन भगवानकी वीर्यवती लीलाकथा तथा भगवद्-भक्तोंके भक्तिप्रद पूत चरित्र श्रवण द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीचरणोंमें रति पैदा होती है।

कालगत अनुशीलन—कालगत अनुशीलन सर्वदा विधेय है। एक पक्ष अर्थात् पन्द्रह दिनोंतक संसारके नानाप्रकारके कार्योंको करके श्रीहरिवासर (एकादशी) के दिन अहार-निद्राका परित्याग करके भगवदनुशीलन करना जीवमात्रका नितान्त कर्तव्य है। उर्ज्जव्रत-पालन अर्थात् कार्तिक महिनेमें नियम-सेवा पालन करना सर्वतोभावेन कर्तव्य हैं। हरिलीला सम्बन्धित पर्वोंका सम्मान करना परमकल्याण-जनक हैं। परम भागवतोंके जीवनमें जो-जो बड़ी-बड़ी घटनाएँ घटित हुई हैं, उन सभी दिनों और तिथियोंका आदर करना परम कर्तव्य है।

द्रव्यगत अनुशीलन—द्रव्यगत भगवदनुशीलन अनेक प्रकारके हैं। उनकी गणना करना द्रव्यसंख्या की भाँति अत्यन्त कठिन है। फिर भी उनमेंसे कुछेकका वर्णन करनेसे अन्यान्य सबकी धारणा हो जायेगी। वृक्ष एक द्रव्य है। अतएव इस द्रव्यमें भगवदनुशीलन करनेके लिये पीपल, आँवला, तुलसी आदि कतिपय अत्यन्त पवित्र वृक्षोंके सम्बन्धमें भगवत् अनुशीलन होता है। मूर्त्ति एक द्रव्य है; इसीलिये जीवके शुद्धचित्तमें प्रतिभात भगवत्स्वरूपके अवतारूप श्रीमूर्त्तिकी सेवा करना कर्तव्य है। पर्वतोंमें गोवर्द्धन, नदियोंमें गङ्गा-यमुना, पशुओंमें गाय और गोवत्स—ये सब भगवदनुशीलन के निदर्शन स्वरूप हैं *। श्रीमूर्त्तिकी सेवा और

(क) त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयो विवर्द्धनाः। कुर्यात् सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः॥
(भा. ७।१४।२४)

(ख) पात्रं तत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः। हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम॥
(भा. ७।१४।३८)

* तस्मात् पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते। दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप॥
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता॥(भा० ७।१४।३६)

अर्चनके सम्बन्धमें मनुष्योंके व्यवहार्य शयन-आसन आदि कार्योंके उपयोगी सारी सामग्रियों तथा चन्दन, गन्ध द्रव्यादि, वस्त्र और पलङ्ग आदि सारे द्रव्योंको भगवदर्पित करनेकी विधि है। अपने प्रिय द्रव्योंको भगवदर्पित करनेसे वैध सेवा सुष्ठु होती है। श्री-मूर्त्तियाँ आठ प्रकारकी होती हैं *।

(५) चार प्रकारके समाजगत अनुशीलन

जब भक्तोंने देखा कि उनका अपने शरीर, मन, आत्मा और व्यवहार्य देश, काल और द्रव्यद्वारा श्रीभगवदनुशीलन होने लगा, तब उनको अपार आनन्द हुआ, परन्तु जब वे यह अनुभव करते हैं कि अभी भी कुछ बाकी है, तब उन्हें दुःख होता है। दूसरे लोगोंसे उनका जो सामाजिक सम्बन्ध होता है, उनमें भगवदनुशीलन होनेसे वे परमानन्दित होते हैं। ऐसा सोच कर वे समाजगत भगवदनु-शीलनकी विधियाँ निर्माण करते हैं जिससे समाजके दूसरे व्यक्ति भी सहज ही भगवदनुशीलन कर सकें ‡। समाजगत अनुशीलन चार प्रकारके हैं—

(१) सद्गोष्ठी महोत्सव, (२) वैष्णवजगत् समृद्धि, (३) वैष्णव संसारपत्तन और उन्नतिकरण और (४) सभी जीवोंको वैष्णवधर्ममें दीक्षित करानेकी चेष्टा।

सद्गोष्ठी-महोत्सव—जो लोग भगवद्भक्त हैं, उनके साथ रहना, मिलना-जुलना, उनके साथ महा-प्रसाद भोजन, हरिकथा और हरि-संकीर्तन आदि नानाप्रकारके शुद्धानन्दजनक कार्योंके द्वारा महोत्सव आदि करना चाहिये। उनमें भी जो मधुररसके सम्बन्धमें चतुर हों, उनके साथ श्रीमद्भागवत आदि रसग्रन्थोंके अर्थका आस्वादन करना चाहिये। सद्गोष्ठीके सम्बन्धमें दो बातोंको अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिये, जिससे कहीं किसी प्रकारसे वैष्णव अपराध न हो जाय। इस विषयमें श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने हमें खूब सावधान रहनेकी आज्ञा दी है। जो लोग सम्पूर्णरूपसे कपट हैं, उनको बहिर्मुख जान कर उनका संग सर्वतोभावेन परित्याग करना चाहिये। † जो लोग सरल हैं, उनके प्रति दो प्रकार के व्यवहार हैं— सेवा और मर्यादा। यथार्थ वैष्णव-के मिलने पर उनके साथ अन्तरंग संग और उनकी अन्तरंग सेवा करना कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त साधारण वैष्णव पक्षीय लोगोंको यथायोग्य मर्यादा प्रदान करनी चाहिये। यह मर्यादा अवश्य ही बहिरंग सेवाके रूपमें कृत होती है। वैष्णवपक्षीय लोगोंको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है—

(१) जो लोग वैष्णव सिद्धान्त एवं तत्त्वको सर्वो-त्तम तो मानते हैं, परन्तु स्वयं अभी वैष्णव नहीं हैं।

* शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती। मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥
(भा. ११।२७।१२)

‡ एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्। परिचर्यां चोभयत्र महत्सु तृषु साधुषु॥ (भा. ११।२३।२९)

† ततो दुःसंगमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्। सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥
(भा० ११।२६।२६)

(४) जिन्होंने वैष्णवचिह्न और वैष्णव अभिमान ग्रहण कर लिये हैं, परन्तु यथार्थ वैष्णव नहीं हो पाये हैं, अथच वैष्णवोंके प्रति श्रद्धा रखते हैं।

३. जो लोग वैष्णव आचार्योंके वंश-परम्परामें पैदा होकर वैष्णव चिह्न और वैष्णव अभिमान अङ्गीकार करते हैं, फिर भी शुद्ध वैष्णव नहीं हैं।

वैष्णवजगत् समृद्धि—जिन लोगोंकी कृष्णभक्ति जितनी ही अधिक निर्मल और प्रगाढ़ है और दूसरों में शक्ति संचार करनेमें जितनी ही अधिक सामर्थ्य है, वे उतने ही अधिक प्रकृत वैष्णव हैं। हृदयमें थोड़ी सी विमल कृष्णभक्ति उदित होनेसे ही प्रकृत वैष्णवत्व लाभ होता है। वैष्णव और वैष्णव पक्षीय लोगोंके संग तथा उनकी मर्यादाका निरूपण किया गया। अतएव अवैष्णवको वैष्णव मानकर उनको मर्यादा प्रदान करने अथवा उनका संग करनेसे भक्ति क्षीण होती है (क)। इसलिये वैष्णवचिह्नधारी तथा वैष्णव अभिमानकारियोंमेंसे निम्नलिखित व्यक्तियोंका सङ्ग अवश्य ही परित्याग करना चाहिये। गौण विधिके अनुसार मानवमात्रको मर्यादा देनेका जो उल्लेख है, उसके अनुसार सबको यथासाध्य संतुष्ट रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। परन्तु उनको भक्तगोष्ठीमें नहीं लेना चाहिये। जो संयोगी वैष्णव वर्तमान हैं, उनमें से भी यदि कोई शुद्ध भक्त हो जाँय, तो वे भी शुद्ध वैष्णवोंके संगके योग्य पात्र हो सकते हैं।

कपट वैष्णव—१. जो लोग केवल धूर्त्ततापूर्वक दूसरोंको ठगनेके लिये वैष्णव चिह्न धारण करते हैं।

२. जो लोग वैष्णवोंमें केवल-अभेदवादका प्रवेश करानेके लिये अपने को वैष्णव आचार्योंके अनुगत बतलाते हैं।

३. अर्थके लोभसे अथवा प्रतिष्ठाके लोभसे या किसी प्रकारके भोगके लोभसे जो लोग अपनेको वैष्णवपक्षीय बतलाते हैं। इन तीनों प्रकारके लोगों से सदा-सर्वदा दूर रहना चाहिये।

बहिर्मुख संसार तथा वैष्णव संसार

स्वजातीयाशयस्निग्ध सद्गोष्ठीके अतिरिक्त अन्यत्र रसालाप नहीं करना चाहिये (ख)। वैष्णव जगत्की समृद्धिके सम्बन्धमें भगवद्भक्तोंको छोड़ कर दूसरोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये। विवाहिता स्त्रीको वैष्णव-धर्ममें दीक्षित कराकर उसे जहाँ तक हो सके वैष्णव-तत्त्वकी शिक्षा देनी चाहिये। बहुत बड़े सौभाग्यसे वैष्णवी पत्नी मिलती है। वैष्णवी पत्नीके साथ वैष्णव संसार समृद्ध करनेसे बहिर्मुख प्रवृत्तिकी आलोचना नहीं होती। इस वैष्णव संसारमें जो संतान पैदा हों, उनको भगवान्का दास समझना चाहिये। भगवद्दासोंकी संख्या बढ़ा कर आनन्द लाभ करना चाहिये। बहिर्मुख संसार और वैष्णव संसारमें केवलमात्र एक निष्ठाका भेद है, बाहरसे दोनों संसार एक ही समान दीखते हैं। बहिर्मुख

(क) कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत दीक्षास्तिचेत् प्रणतिभिश्च भजन्तमीशम्।
शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्य - निन्दादिशुन्यहृदमीप्सितसंगलब्ध्या॥ (श्रीउपदेशामृत)

(ख) यस्य यत्संगतिः पुंसो मणिवत् स्यात् स तदगुणः। स्वकुलोद्धँस्ततो धीमान् स्वयुथान्येव संश्रयेत्॥
(हरिभक्तिसुधोदय)

लोग भी विवाह करते हैं, अर्थ संग्रह करते हैं, गृह निर्माण करते हैं, घर-बार करते हैं, न्यायका नाम करके समस्त कार्य करते हैं तथा संतानादि पैदा करते हैं, परन्तु उनकी निष्ठा ऐसी होती है कि इन कार्योंसे वे जगतकी सुख-समृद्धि करेंगे अथवा जगत के अन्तर्गत स्वयं भी सुख भोग करेंगे। वैष्णवगण उन्हींकी तरह कार्योंको करते तो हैं, परन्तु उन कार्यों का फल स्वयं आत्मसात नहीं करते, बल्कि ये जो कुछ करते हैं, भगवानकी सेवाके लिये ही करते हैं। अंतमें वैष्णवगण संतोष लाभ करते हैं। बहिर्मुखगण उच्चाभिलाष या भोग-मोक्षकी स्पृहासे उत्पन्न काम और क्रोध आदिके वशीभूत होकर दिनरात बेचैन रहते हैं। वैधभक्तजन वैष्णव संसारकी स्थापना करके उसके द्वारा भक्तिकी आलोचना समृद्ध करनेके लिये उस वैष्णव संसारकी उन्नतिका प्रयास करेंगे। सब जीवों पर दया करना वैष्णवोंका एक प्रधान गुण है। वैष्णवगण सभी जीवोंको बड़ी व्याकुलता से वैष्णव करनेके लिये नाना प्रकारके उपायोंका सृजन करते हैं। वैष्णवगण परमेश्वरके प्रति प्रेम, विशुद्ध भगवद्भक्तोंके प्रति मित्रता और कनिष्ठाधिकारी तथा बहिर्मुख व्यक्तियोंके प्रति कृपा करते हैं।* जो जीव सौभाग्यवशतः सत्संग लाभ करके भक्तिपथ पर चलनेकी कामना करते हैं, उनके प्रति भागवतगण असीम कृपा वितरण करके उनको परमार्थकी शिक्षा देते हैं तथा उनमें शक्ति संचार करके उनका उद्धार करते हैं। बहुतसे दुर्भागा लोग कुछ खण्ड तर्क (कुतर्क) के बल पर किसी प्रकार भी आत्मोन्नति स्वीकार नहीं करते। ऐसे दुर्भागालोगोंकी उपेक्षा करनी ही वांछनीय है।

भक्ति-महिमा

भजन करता या शोभा तन की ।
जो यह जीव करै अतिदुर्मति, क्षीणदशा सब अङ्ग की ॥
भजन क्रिया ते पाप काँपते, मुक्ति मोहमहिमा की ।
चित्रगुहा भी भूल जाँय जब, देखि दशा चित मन की ॥
लेखन बैठे नाम रेख तो, भजनी सब जीवन की ।
जाना भजनी जीव नाम हैं, भजन क्रिया है इसकी ॥
ब्रह्मा आ मधुपर्क देहिंगे, मेरी दशा फिर किसकी ।
'उपाध्याय' की वाणी में फिर रटन नाम-महिमा की ॥

श्रीकेशव 'उपाध्याय' एस. ए. पी. एच. डी.

* ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च । प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ (भा० ११।२।४६)

गीताका तात्पर्य

आजकल 'गीता कर्म शास्त्र है,' गीता कर्मकी शिक्षा देती है' ऐसा लिखना या कहना एक फैशन हो गया है । प्रमाणके रूपमें अर्जुनको उपस्थित किया जाता है कि गीतोपदेशके पश्चात् अर्जुनने तो युद्ध ही किया था । यदि गीताका तात्पर्य सब कुछ छोड़ छाड़ कर केवल कृष्ण-कृष्ण कहना या संसारसे विरक्त होकर एकमात्र भक्ति करना ही है तो अर्जुन स्वयं ही युद्धसे पहले ही इसके लिये प्रस्तुत था, फिर गीतोपदेशके पश्चात् गीतोपदेशके श्रोता अर्जुन के द्वारा इतना भयानक महाभारत युद्ध रचानेकी भगवान कृष्णको आवश्यकता ही क्या थी ? संन्यास और अनन्य भक्ति पथ अवलम्बन करना तो कर्म क्षेत्रसे पलायन करना है ।' इत्यादि ।

परन्तु यह जानकर दुःख होता है कि अपनेको दर्शन शास्त्रका पारंगत एवं महामहोपदेशक अभिमान करनेवाले अर्वाचीन विद्वान कर्म, ज्ञान और भक्ति तत्त्वसे सर्वथा अनभिज्ञ होकर भी परम निगूढ़ एवं सर्वशास्त्रमयी श्रीमद्भगवद्गीताके तात्पर्यकी शिक्षा देनेका दुस्साहस करते हैं । दो-चार खण्ड युक्तियाँ दिखला कर अनभिज्ञ जनताकी वाह-वाही संग्रह करना तथा जगतको आपात् रमणीय भोगवादके दलदलमें फँसा देना ही उनका उद्देश्य होता है ।

यदि गीताकी शिक्षाओंपर आचरण करनेवाले अर्जुनको कर्म ही अभीष्ट होता तो महाभारत युद्धके पश्चात् भगवान कृष्णकी अप्रकट लीलाविष्कारके पश्चात केवल अर्जुन ही नहीं, धर्मराज युधिष्ठिर भीम, नकुल और सहदेव आदि संसारसे विरक्त होकर हिमालयकी ओर क्यों महाप्रयाण किये ? क्या उनका कर्म समाप्त हो चुका था ? इससे तो कर्म अनित्य ही जान पड़ता है । महाभारत युद्धमें पृथ्वी के अगणित राजाओंके मरनेसे, प्रभास क्षेत्रमें यदुकुलका अंत होने पर तथा श्रीकृष्ण और बलरामके अप्रकट होनेपर और श्रीकृष्णके मंत्री और परमप्रिय शिष्य तथा सखा महान उद्धवके परिव्राजक होकर बदरिकाश्रममें गमन करने पर पाण्डवों पर और भी अधिक कर्मका दायित्व आ गया था । फिर आधुनिक तथाकथित शास्त्रज्ञोंके सिद्धान्तके अनुसार अर्जुन कर्मक्षेत्रसे पलायन कर—जीवन संघर्षसे भयभीत होकर ही हिमालयकी कन्दराओंकी ओर भाग गया क्या ?

वास्तवमें अर्जुन मायामुग्ध अज्ञानी जीव नहीं हैं । वे तो भगवान श्रीकृष्णके नित्यमुक्त प्रिय पार्षद हैं । उन्होंने भगवानकी लीला-पुष्टिके लिये भगवान की इच्छासे जगतमें आविर्भूत होकर जगतको गीता रूपी अमृत प्रदान करवानेके लिये अज्ञानी जीव जैसा अभिनय मात्र किया है । इसका संकेत गीतामें ही भगवान श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके लिये सम्बोधित 'गुडाकेश' आदि शब्दोंसे ही मिलता है । अतः मुक्त कुल चूड़ामणि परम भागवत अर्जुनकी क्रियाएँ भी भगवान श्रीकृष्णकी क्रियाओंकी भाँति दिव्य और सर्व साधारणके लिये दुर्बोध्य हैं । इसलिये

अर्जुनका युद्ध करना अथवा महाप्रयाण--कर्म है, अथवा ज्ञान है या भक्ति है, यह विचारणीय है।

उपर्युक्त विविध प्रकारके संदेहास्पद जटिल विषयोंकी मीमांसाके लिये यहाँ भगवत्पार्षद नित्य-लीला प्रविष्ट ॐविष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्ति विनोद ठाकुर द्वारा लिखित गीताकी अवतरणिकाको उद्धृत कर रहे हैं।

"निगमशास्त्र—अत्यन्त विपुल हैं। उसके किसी अंशमें धर्मका, किसी अंशमें कर्मका, किसी अंशमें ज्ञानका और किसी अंशमें भगवद्भक्तिका विस्तार से वर्णन पाया जाता है। उक्त विषयोंमें परस्पर क्या सम्बन्ध है तथा किन-किन दशाओंमें उनमेंसे एक को छोड़ कर दूसरेको ग्रहण करना कर्तव्य है—इस प्रकार क्रमाधिकार तत्त्वका विचार भी इन्हीं शास्त्रों में कहीं-कहीं दिखलायी पड़ता है। परन्तु अल्पायु और संकीर्ण बुद्धिविशिष्ट कलियुगी जीवोंके लिये उक्त अपार शास्त्रोंका अध्ययन और विचारपूर्वक अधिकार अनुसार शास्त्रोंका तात्पर्य निर्णय करना बड़ा ही कठिन है। इसलिये इन विविध व्यवस्थाओं की एक संक्षिप्त एवं सरल वैज्ञानिक मीमांसा ढूढ़ निकालना अत्यन्त आवश्यक है। कालके प्रभावसे द्वापरके अन्तमें धीशक्ति सम्पन्न व्यक्ति भी वेदशास्त्रों का यथार्थ तात्पर्य समझनेमें अक्षम होकर कोई कर्म को, कोई योगको, कोई सांख्य-ज्ञानको, कोई तर्कको और कोई अभेद ब्रह्मवादको एकमात्र ग्रहण करने योग्य निर्दिष्ट करने लगे थे। इससे उस समय भारत भूमिमें खण्ड ज्ञान जनित असम्पूर्ण विभिन्न मतवाद पाकस्थलीमें अचर्वित खाद्यद्रव्योंकी भाँति नाना प्रकारके उत्पात पैदा करने लगे थे।

उक्त उत्पात-समूह कलियुगके आगमनके प्राक्-कालमें अत्यन्त प्रबल होने पर सत्य-प्रतिज्ञ परम कारुणिक भगवान कृष्णचन्द्र अपने सखाको लक्ष्य करके जगतके उद्धारके लिये एकमात्र उपाय स्वरूप, सर्ववेद सारार्थ-मीमांसारूप श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्र का प्रकाश किया। अतएव गीता-शास्त्र समस्त उप-निषदोंके शिरोभूषणके रूपमें देदीप्यमान है। भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओंका परस्पर सम्बन्ध तथा उनके चरम लक्ष्यरूप पवित्र हरिभक्ति ही जीवमात्रके लिये नित्य कर्तव्य है—यही गीताकी शिक्षा है। कोई-कोई तर्कप्रिय पण्डित गीता शास्त्रको अभेद ब्रह्म-वाद-मतपोषक शास्त्र बतलाते हैं। उनके मत प्रवर्त्तक भगवदादेश पालनकारी श्रीशंकाराचार्यने भगवद्-गीता पर जो भाष्य लिखे हैं, उसीका अवलम्बन करके ही वे उक्त कुतर्कको प्रतिष्ठा करते हैं।

जिन शास्त्रोंमें 'कर्म' या 'ज्ञान' को चरम उद्देश्य स्थिर किया गया है, वे ग्रन्थसमूह उन व्यवस्थाओंके लिये ही कल्याणप्रद हैं। उन-उन व्यवस्थाओंके प्रति निष्ठा उत्पन्न करनेके लिये ही उन ग्रन्थोंमें उन-उन व्यवस्थाओंको चरम व्यवस्था निर्दिष्ट किया गया है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो उन-उन व्यवस्थाओं के अधिकारी उन व्यवस्थाओंका त्याग कर अनधि-कारगत दूसरी व्यवस्था ग्रहण करके अपना अमंगल कर लेते। ऐसा विचार करके ही कर्म शास्त्रमें कर्मको और ज्ञान शास्त्रमें ज्ञानको सर्वोत्तम कहा गया है। इस प्रकारका कौशल अवलम्बनीय या है नहीं—हम यहाँ इस विषयपर विचार नहीं कर रहे हैं, केवल मात्र यही बतला रहे हैं कि अधिकांश शास्त्रोंमें उक्त कौशलका ही अवलम्बन किया गया है। जिन

ग्रन्थोंमें साधनकालमें कर्म-ज्ञान-प्रधानीभूता भक्तिका और फलकालमें निरूपाधिक प्रीतिका उपदेश है, वे ही ग्रन्थसमूह सर्व जीवोंके लिये नितान्त श्रेयस्कर हैं। उपनिषद्समूह, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता—ये सम्पूर्ण रूपसे भक्ति शास्त्र हैं। इन शास्त्रोंमें कहीं-कहीं पर आवश्यकतानुसार 'कर्म','मुक्ति' और 'ब्रह्मप्राप्ति' आदि विषयोंकी विशद आलोचना परिलक्षित होती है, परन्तु चरम-मीमांसाके स्थल पर केवल शुद्धभक्ति का ही उपदेश हैं, अन्यका नहीं।

गीता पाठकोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है—स्थूलदर्शी और सूक्ष्मदर्शी। स्थूल दर्शी पाठक केवल वाक्योंके बाहरी अर्थको लेकर ही अपना सिद्धान्त स्थिर करते हैं, किन्तु सूक्ष्म-दर्शी पाठक शास्त्रोंके तात्त्विक अर्थकी खोज करता है। स्थूलदर्शी पाठक गीताका आद्योपान्त पाठ करके ऐसा सिद्धान्त करता है कि वर्णाश्रमके लिये जिन कर्मोंका विधान किया गया हैं, वे नित्य हैं, अतएव वर्णाश्रम-विहित कर्मोंका आचरण करना ही गीता का तात्पर्य है।

सूक्ष्मदर्शी पाठक ऐसे जड़ीय सिद्धान्तोंसे सन्तुष्ट नहीं होते, वे या तो ब्रह्मज्ञान अथवा पराभक्तिको ही गीताका एकमात्र तात्पर्य स्थिर करते हैं। उनका कहना है कि अर्जुनका युद्ध करना केवल अधिकारके अनुसार निष्ठाका ही निदर्शन है, यह गीताका चरम उद्देश्य नहीं है। मानव अपने-अपने स्वभावानुसार कर्मोंका अधिकार प्राप्त करना चाहता है और अपने अधिकारके अनुसार कर्मोंका आचरणपूर्वक जीवन-यात्राका निर्वाह करते हुए तत्त्वज्ञान लाभ करता है। कर्मका आश्रय किये बिना जीवन यात्राका सुचारु रूपसे निर्वाह नहीं होता है। यदि जीवन-यात्राका निर्वाह सुचारु ढंगसे न सम्पन्न हो तो तत्त्व-दर्शन भी सुलभ नहीं होगा। अतएव तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिमें कर्म और वर्णाश्रम-धर्मका एक सुदूरवर्ती सम्बन्ध है। जब तक जीव मायाबन्धनसे सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता, तब तक यह सम्बन्ध अपरिहार्य होता है। अर्जुनके स्वभावके अनुसार युद्धरूप क्षत्रिय-धर्मका पालन करना ही उनका कर्त्तव्य है। इसलिये गीताका श्रवण कर अर्जुन द्वारा युद्ध अंगीकार करनेसे यह स्थिर होता है कि ब्रह्मस्वभाव वाले व्यक्ति गीताका श्रवण करके शुद्धवकी तरह प्रव्रज्या—संन्यास स्वीकार करेंगे और क्षात्र-स्वभाव वाले व्यक्ति अर्जुनकी तरह—क्षात्रवृत्ति। अतएव जिस व्यक्तिका जैसा स्वभाव है, उसी स्वभावके अनुसार उसका अधिकार होता है, उसी अधिकारके लिये निर्दिष्ट जीवन-यात्रा निर्वाहोपयोगी कर्मोंको स्वीकार करते हुए परतत्त्वका अनुसंधान करना कर्तव्य है। गीताका यही परम निगूढ़ तात्पर्य है। इसीसे श्रेयः की प्राप्ति हो सकती है। अधिकारका परित्याग करनेसे बद्धजीवोंके लिये परतत्त्व लाभ करनेकी कोई संभावना नहीं है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि—'अर्जुन तो परम वैष्णव थे, तब परम वैष्णव होते हुए भी क्या वे ब्रह्म स्वभावसम्पन्न नहीं थे ?' इसका उत्तर यह है कि—'अर्जुन युक्तात्मा तो हैं', परन्तु भगवानके प्रपञ्चमें अवतीर्ण होने पर उनकी लीलापुष्टिके लिये वे क्षात्र - स्वभावको अभिनयके रूपमें अंगीकार करके अवतीर्ण हुए थे। उनका तात्कालिक स्वभाव क्षत्रिय-स्वभाव था। इस स्वभावको लक्ष्य करके ही

भगवानने जगतमें अधिकार-तत्त्वकी शिक्षा दी है'—इतना ही समझना होगा।

सरल बुद्धि द्वारा विचार करने पर जीवोंकी जड़-बद्ध अवस्था अत्यन्त शोचनीय प्रतीत होती है। इस शोचनीय अवस्थासे मुक्त होकर किसी मंगलमय विशुद्ध अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये कोई उपाय अवलम्बन करना उचित जान पड़ता है। उसी विशुद्ध अवस्थाको 'उपेय' या 'प्रयोजन' कहते हैं। जिस साधनसे वह विशुद्ध अवस्था प्राप्त होती है, उसे उपाय कहते हैं। शास्त्रकारोंमेंसे किसीने यज्ञको, किसीने योगको, किसीने पुण्यको, किसीने वैराग्यको किसीने तपस्याको, किसीने धर्म, युद्धको, किसीने ईश्वर उपासनाको, किसीने धर्मको, किसीने गुरु सेवाको, किसने प्रायश्चितको और किसीने दानको प्रयोजन प्राप्ति का 'उपाय' स्थिर किया है। इस प्रकार नाना नामों-द्वारा अवैज्ञानिक रूपमें कहे गये उपाय-तत्त्वोंकी संख्या अगणित हो उठी। कुछ समयके पश्चात् इस विषयमें विज्ञानके हस्तक्षेप करनेसे उनकी संख्या घट गयी। पीछे देखा गया कि ये सब उपाय भिन्न-भिन्न तीन तत्त्वोंके अधीन हैं। ये तीन तत्त्व है—कर्म, ज्ञान और भक्ति।

स्वतः सिद्ध आत्मप्रत्यय और विशुद्ध विचार द्वारा यह निर्णय किया गया है कि जीवोंकी सिद्ध सत्ता चिन्मयी है। माताके गर्भसे जो उत्पत्ति होती है, वह केवल उस सिद्धसत्ताकी (आत्माकी) जड़ बद्ध दशामात्र है। अचिन्त्य अतर्क्य शक्ति-सम्पन्न भगवानकी इच्छाके अतिरिक्त चिन्मय तत्त्वके जड़-सम्बन्ध अर्थात् चित्-जड़-ग्रन्थीका कोई दूसरा हेतु नहीं है; वह समीम मानव-मेधाकी सीमाके अन्तर्गत नहीं है। अतएव मुक्त और बद्ध दोनों अवस्थाओंके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं—मुक्त और बद्ध। मुक्त जीव दो प्रकारके हैं—(१) कभी भी मायाबद्ध नहीं हुए नित्यमुक्त जीव और (२) बद्धावस्थासे मुक्त हुए बन्धन मुक्त जीव। दोनों प्रकारके मुक्त जीव शास्त्रसे परे होते हैं। कर्म, ज्ञान और भक्तिका जो पार्थक्य बद्ध जीवोंमें दिखायी पड़ता है, वह मुक्त जीवोंमें नहीं होता। कर्म और ज्ञान—ये प्रेम भक्तिकी उपाधियाँ हैं। ये उपाधियाँ जिस जीवके प्रेमरूप नित्य धर्मको स्पर्श करती हैं, उसकी बद्धावस्था होती है। बद्धावस्थामें भगवद् बहिर्मुखता रूप उपाधि द्वारा जीवोंकी प्रेमवृत्ति विकृत होकर धर्म (कर्म) का आकार ग्रहण करती है। कहीं-कहीं वह ज्ञानरूपमें भी प्रकाशित होती है। साधन भक्ति उसी वृत्तिका तीसरा आकार है। इनमें साधन भक्तिका आकार ही बद्ध जीवोंके स्वास्थ्यका लक्षण है और शेष दोनों जड़ सम्बन्ध द्वारा रोगके लक्षण हैं।

जब तक शरीर है, तब तक कर्म अपरिहार्य हैं। शरीर यात्रा निर्वाह करनेके लिये जिन कर्मोंको किया जाता है, उनमें जो कर्म जगतके लिये अमङ्गलजनक होते हैं, उन्हें 'विकर्म' कहते हैं। मङ्गलजनक कर्मोंको न करना ही 'अकर्म' है और जिन कर्मोंसे जगतका कल्याण होता है, उन्हें 'कर्म' कहते हैं। कर्म चार प्रकारके होते हैं—(१) शारीरिक, (२) मानसिक, (३) सामाजिक और (४) आध्यात्मिक। प्रत्येक कर्मों का एक-एक गौण फल होता है। जैसे भोजन करने का फल शरीर-पोषण तथा विवाह करनेका फल

सन्तानोत्पत्ति है। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे ये दोनों ही गौण फल हैं; मुख्य नहीं। मुख्य फल तो एकमात्र शान्ति ही है। विज्ञानको उसकी अंतिम परिधि तक बढ़ा देने पर ऐसा देखा जायगा कि मायिक सुख-दुख से क्रमशः मुक्त होकर भगवानके चरणोंकी सेवा प्राप्ति करना ही परम शान्ति है। आहार, विहार, व्यायाम शयन और शौचादि शरीर-पालक कर्म, यज्ञ, व्रत और अष्टांग योगादि नाना प्रकारके सामाजिक, शारीरिक और मानसिक कर्मोंका उपदेश दिया गया है। अष्टांग योगमें यम, नियम, आसन और प्राणायाम—ये चार शरीर सम्बन्धी शारीर योग हैं। प्रत्याहार इन्द्रिय निग्रह ध्यान, धारणा—ये मानस योग है और समाधि आध्यात्मिक योग है। इनके समुदाय को ही शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कर्म कहते हैं।

वेद और मन्वादि बीस धर्म शास्त्रोंमें यज्ञ, दान, व्रत और वर्णाश्रम-विहित सर्व प्रकारके सामाजिक कर्मोंकी व्यवस्था है। जिन-जिन शास्त्रोंमें कर्मकी व्यवस्था देखी जाती है, उन-उन शास्त्रोंमें उन कर्मों के अपाततः गौण फलोंका वर्णन देखा जाने पर भी उन्हीं शास्त्रोंमें किसी न किसी रूपमें चरम सिद्धान्त के रूपमें 'शान्ति' रूप मुख्य फलको स्थिर किया गया है। अष्टांग योग शास्त्रके विभूतिपादमें नाना प्रकार के ऐश्वर्योंको भोगोंका अवांतर फल बतलानेके पश्चात् कैवल्यपादमें केवल 'शान्ति' को ही उनका चरम फल विवेचन किया गया है। समस्त कर्म ही प्रारम्भमें सुख-भोग देनेकी प्रतिज्ञा करते हैं; किन्तु अंतमें वे सभी विषय-सुखोंकी अनित्यता दिखलाकर कैवल्य शान्ति-सुखको ही श्रेष्ठ बतलाकर उसके प्रति साधक का लक्ष्य स्थिर करवाते हैं। कैवल्य शांन्ति—भुक्ति (सुख-भोग) की अपेक्षा श्रेष्ठ होने पर भी वह अवस्था केवल दुःखोंका अभाव मात्र है—स्वयं सुख-स्वरूप नहीं है अर्थात् कैवल्य शान्तिमें दुःखोंका अभाव तो रहता ही है, साथ ही सुख या आनन्दका भी उसमें अभाव रहता है। फिर किसी तरह ब्रह्म-ज्ञानरूप सिद्धावस्थाकी खोज पायी जाती है। अभेद ब्रह्मसुख तक सभी अवांतर फलोंको पाकर जब भगवत-सेवा सुख दिखाई पड़ता है, तब कर्म भक्ति के रूपमें बदल जाता है। अतएव भक्ति ही जीवोंके कर्म फलोंका सर्वोच्च उद्देश्य है। जिन कर्मोंमें यह चरम उद्देश्य परिलक्षित नहीं होता, वह कर्म भगवद्बहिर्मुख हैं। ऐसे बहिर्मुख कर्मोंको ही कर्म कहते हैं। भगवत्सेवा-परायण होने पर वैसे कर्मोंको 'साधन भक्ति' कहते हैं; तब उनका नाम 'कर्म' नहीं रहता।

जीव जड़बद्ध होने पर भी वह स्वयं स्वरूपतः चिन्मयतत्त्व है। अतएव उसके लिये ज्ञानालोचना—स्वाभाविक है। ज्ञानालोचनाएँ चार प्रकारकी हैं—(१) जड़ीय ज्ञानालोचना, (२) लैङ्गिक ज्ञानालोचना, (३) जड़ और लिंगके व्यतिरेक ज्ञानालोचना और (४) शुद्ध ज्ञानालोचना। देखने और सुनने आदिसे जो जड़ीय विषय ज्ञान होता है, वह 'जड़ीय-ज्ञान' है। ध्यान, धारणा, कल्पना और विभावनामय मानव जगतके ज्ञानको 'लैङ्गिक ज्ञान' कहते हैं। जड़ीय और लैङ्गिक ज्ञानको अष्टांगयोगके अन्तर्गत समाधि योगके द्वारा अथवा सांख्ययोगीके अतन्निरसन प्रक्रियाके द्वारा दूर कर देने पर जड़ और लिंगके व्यतिरेक ज्ञानरूप 'कूट समाधि' होती है।

इसी जगह शङ्करीय अभेद-ब्रह्मवाद अथवा पातञ्जलीय ईश्वर-सायुज्यरूप कैवल्यवाद उदित होता है। निरुपाधिक चित्-तत्त्वकी शुद्धावस्थामें अर्थात स्थूल और लिंगका 'सत्तात् दर्शन' या कूट समाधि की व्यतिरेक-भावना दूर होने पर शुद्ध चित्त तत्त्वका सहज ही प्रकाश होता है; इसीका नाम 'सहज समाधि' या 'शुद्धज्ञान' है, यही ज्ञान भक्ति-पोषक है। ज्ञानालोचनाके द्वारा बद्धजीव पहले-पहल जड़ जगतके भिन्न-भिन्न पदार्थोंका ज्ञान संग्रह करता है। पीछे सभीके कर्त्ता और पालयिताके रूपमें एक ईश्वरको मानकर उनकी हेतुकी भक्ति करता है। कभी जगतको नश्वर मानकर स्वयं वैराग्य अवलम्बन करता है। तथा जगतसे अतीत किसी निराकार-निर्विशेष एवं अनिर्वचनीय तत्त्वके साथ स्वयं मिल कर एक होने जानेकी कल्पना रूप अभेद-ब्रह्मवाद की कल्पना करता है, कभी वस्तुका अस्तित्व अस्वीकार करके निर्वाण या शून्यको ही सुख मानकर उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। अन्तमें सौभाग्यवशतः अभेद-चिन्ता और निर्वाण-चिन्ताको अत्यन्त हेय और तुच्छ जानकर जीव किसी परम-तत्त्वका आनुगत्य स्वीकार करता है। यह आनुगत स्पष्टीभूत होने पर भक्तिके रूपमें प्रकटित होता है। अतएव भक्ति ही जीवके ज्ञान-फलका चरम उद्देश्य है। कर्मका आवांतर फल भुक्ति है और ज्ञानका आवांतर फल मुक्ति है तथा इन दोनोंका चरम फल है—भक्ति। जिस ज्ञानका चरम उद्देश्य भक्ति नहीं होता, वह ज्ञान सोपाधिक और भगवद्बहिर्मुख है तथा सर्वथा परित्याज्य है और जिस ज्ञानका चरम उद्देश्य भक्ति होता है, उसे 'साधन-भक्ति' कहते हैं। यह साधन-भक्ति जीवमात्रके लिये परम कल्याण जनक है।

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि भक्तिका कोई नित्यसिद्ध स्वरूप नहीं है; केवल कर्मकी विशुद्धावस्था और ज्ञानकी कैवल्यावस्थाको ही 'भक्ति' कहा जाता है। ऐसा सिद्धान्त सम्पूर्ण भ्रमात्मक है। सूक्ष्मदर्शी पण्डितोंका कहना है कि विशुद्ध आत्माकी आस्वादनवृत्तिकी परिचालनाको 'केवला', 'अकिञ्चना' या 'अनन्या' भक्ति कहते हैं, उसीका दूसरा नाम है—प्रेम। और आत्माकी विचार-वृत्तिकी परिचालनाको ज्ञान कहते हैं। आस्वादन शून्य—विचार समूह अन्त तक अभेद-ब्रह्मवाद या निर्वाणवादरूप अनर्थ को अवश्य पैदा करते हैं। जीव स्वभावतः ही आस्वादन-प्रधान होता है। जब वह केवल विचार-मय हो जाता है, तब अपने स्वभावसे च्युत हो पड़ता है। जिस समय ज्ञान प्रेमके प्रति लक्ष्य करता है, तब वही ज्ञानमिश्रा-भक्ति कहलाता है तथा जिस समय ज्ञान प्रेमभक्तिकी प्रचुरताके कारण विचार-वृत्तिको दूर कर देता है, तब वह 'केवला-भक्ति' के रूपमें प्रकटित होता है।

जीवकी सत्ता—'नित्य' है; अतएव उसकी आलोचनावृत्ति भी नित्य है। आलोचना-वृत्ति नित्य होने पर उसके कार्य भी नित्य हैं। मुक्तावस्था और बद्धावस्थाके भेदसे जीवके कार्य भी दो प्रकारके होते हैं—निरुपाधिक-कार्य और सोपाधिक-कार्य। जड़-संगके प्रभावसे जीवमें जो जड़ाभिमान होता है, वह जीवकी उपाधि है। उसी उपाधिद्वारा जड़ीय शरीर तथा इस शरीरके अनुगत सम्पूर्ण व्यापारोंमें जो "मैं" और "मेरा" उत्पन्न होता है उसीको जीव

का 'जड़ाभिमान' या 'देहाभिमान' कहते हैं। जड़-बद्ध जीवका कार्य—सोपाधिक होता है; और जो जड़में बद्ध नहीं हैं अथवा भगवान्‌की कृपासे जो जीव जड़से मुक्त हो चुके हैं, उनके कार्य निरुपाधिक हैं। विशुद्ध आत्माके निरुपाधिक कार्यका नाम ही 'भगवत्सेवा' है तथा जड़बद्ध आत्माके सोपाधिक कार्यका नाम ही 'कर्म' है। जड़मुक्त होने पर जीवका कार्य निरुपाधिक होता है। सोपाधिक अवस्थामें जीवका कर्मानुष्ठान अपरिहार्य है। जीवके स्वरूप तत्त्वमें प्रेम-सेवा ही सहज-धर्म है; अतः वह धर्म बद्धदशामें भी जीवके साथ-साथ रहता है। परन्तु बहिर्मुख कर्मोंकी प्रबलताके कारण लुप्तप्राय होता है। जिन जीवोंकी बहिर्मुखता सत्संगके द्वारा दूर हो जाती है, उनमें उक्त सेवा-वृत्ति प्रबल होती है। ऐसी सेवा-वृत्तिको कर्ममिश्रा साधनभक्ति कहते हैं। सेवा-वृत्ति प्रचुररूपमें बलवती होने पर कर्म अपने बहिर्मुख स्वभावका परित्याग कर देता है; उस समय केवलाभक्तिके रूपमें पर्यवसित हो जाता है।

जैसे जड़ यन्त्र द्वारा किये गये कार्य ज्ञानशून्य होते हैं,वैसे मनुष्यद्वारा किये गये कर्म ज्ञानशून्य नहीं होते। मनुष्यद्वारा किये गये कर्मोंमें ज्ञानकी सत्ता लक्षित होती है। उसी प्रकार मानवकी ज्ञानालोचना भी कर्मशून्य नहीं होती। आलोचना ही ज्ञानका जीवन है। यह आलोचना भी एक प्रकारका कर्म ही है। इसीलिये स्थूल बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियोंके निकट कर्म और ज्ञान एक जैसे प्रतीत होते हैं। तात्त्विक विचारसे कर्म और ज्ञानके स्वरूप अलग-अलग हैं। वैसे ही कार्यक्षेत्रमें कर्म और ज्ञानसे भक्तिको पृथक् न समझनेपर भी तात्त्विक दृष्टिसे विचार करने पर कर्म और ज्ञानसे भक्तिका पार्थक्य सिद्ध होता है।

निरुपाधिकी चिन्मयी प्रेम-सेवा ही भक्तिका 'सिद्ध-स्वरूप' है। यद्यपि जड़बद्धावस्थामें उसका स्पष्ट रूपमें निर्देश करना सहज नहीं है, तथापि श्रद्धालु व्यक्तियोंको वह सहज ही अनुभूत होता है। जो लोग रुचिपूर्वक भक्ति तत्त्वकी आलोचना करते हैं, उस विषयमें केवल-तर्कका आदर नहीं करते हैं, केवल वे ही भक्तितत्त्वको अवगत होते हैं।

भक्ति दो प्रकारकी होती है—केवला और प्रधानी-भूता। केवला भक्ति स्वतन्त्र होती है। उसमें कर्म और ज्ञानादिका सम्पूर्णरूपसे अभाव होता है। शास्त्रोंमें ऐसी कर्म-ज्ञान-गंधरहिता निर्मला भक्तिको ही निरुपाधिक प्रेम, निरुपाधिक सेवा, अनन्याभक्ति और अकिञ्चना भक्ति आदि कहा गया है। प्रधानी-भूता भक्ति तीन प्रकारकी होती है—(१) कर्म प्रधानीभूता, (२) ज्ञान-प्रधानीभूता और (३) कर्म ज्ञान प्रधानीभूता। जिस कर्म या ज्ञानमें भक्तिकी प्रधानता होती है और कर्म या ज्ञानका भक्तिके प्रति दासत्वभाव सूचित होता है, उस कर्म या ज्ञानके साथ जो भक्तिवृत्ति मिश्रित रहती है, उसे प्रधानी-भूता भक्ति कहते हैं। जिस कर्म या ज्ञानमें भक्तिकी प्रधानता नहीं होती अर्थात् कर्म या ज्ञानका ही प्रभुत्व सूचित होता है और भक्ति केवल दासीकी तरह कर्म या ज्ञानके आश्रित होती है, उसी कर्मका नाम 'कर्म' और उसी ज्ञानका नाम 'ज्ञान' है। ऐसे कर्म या ज्ञानको भक्तिकी संज्ञा नहीं दी जा सकती। कर्म, ज्ञान और भक्तिके स्वरूप परस्पर भिन्न-भिन्न

हैं। अतएव तत्त्वोंके विचारसे कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और भक्तिकाण्डका अलग-अलग विवेचन किया गया है।

गीतामें अट्ठारह अध्याय हैं। इसके पहले छः अध्यायोंमें कर्म, दूसरे छः अध्यायोंमें भक्ति और तीसरे छः अध्यायोंमें ज्ञानका विवेचन किया गया है। अन्तमें भक्तिकी श्रेष्ठता ही प्रतिपादित है। भक्ति अत्यन्त गूढ़ तत्त्व है। अथच कर्म और ज्ञानका जीवन-स्वरूप और प्रयोजन-साधक होनेके कारण ही भक्ति सम्बन्धी विचारोंको बीचके छः अध्यायोंमें सन्निविष्ट किया गया है।

इस प्रकार विशुद्धभक्ति ही जीवोंका सर्वोच्च लक्ष्य है। यही कृष्णकी शिक्षा है; यही गीताका चरम और एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है। गीताके अन्तमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' श्लोकमें भगवानकी शरणागति ही 'सर्व गुह्यतम' उपदेश है—ऐसा निर्दिष्ट होता है। (गीताके रसिकरंजन भाषाभाष्य की अवतरणिकासे)।

—सम्पादक

प्रचार-प्रसंग

श्रीदामोदर-व्रत और श्रीअन्नकूट महोत्सव

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके अधीनस्थ सभी मठोंमें पूर्व वर्षकी भाँति इस वर्ष भी चातुर्मास्य व्रत तथा उसके अन्तर्गत २३ आश्विन, १० अक्टूबर रविवारसे २३ कार्तिक, ९ नवम्बर, मंगलवार तक श्रीदामोदर-व्रत—नियमसेवाका नियमपूर्वक अनुष्ठान हुआ है। सर्वत्र ही दामोदर-व्रतके उपलक्ष्यमें महीने भर तक प्रति दिन नियमानुसार श्रीविग्रह-सेवापूजा, श्रीमद्भागवत, श्रीचैतन्यचरितामृत आदि भक्ति-ग्रन्थोंके प्रवचन, पाठ, भाषण और संकीर्तन आदि हुए हैं। इस अनुष्ठानके अन्तर्गत सर्वत्र ही ८ कार्तिक सोमवारके दिन श्रीगोवर्द्धन-पूजा तथा श्रीअन्नकूट महोत्सव और १९ कार्त्तिक शुक्रवार, उत्थान एकादशीके दिन नित्यलीला-प्रविष्ट श्रीश्रीगौरकिशोरदास बाबाजी महाराजका विरह महोत्सव आदि विशेष समारोह सम्पन्न हुए हैं।

श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ, श्रीधाम नवद्वीप, श्रीकेशवजी गौड़ीयमठ, मथुरा तथा श्रीउद्धारण गौड़ीयमठ चुचुड़ामें ये उत्सवसमूह विशेष रूपमें मनाये गये हैं।

श्रीधाम नवद्वीपमें—

समितिके मूल मठ श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ, श्रीधाम नवद्वीपमें परमाराध्य श्रीश्रील आचार्यदेवकी अध्यक्षतामें मठके संन्यासी, ब्रह्मचारी और गृहस्थ भक्तोंने आदर्श रूपमें नियम-सेवाका अनुष्ठान किया है। प्रतिदिन सबेरे-शाम श्रीवेदव्यास विरचित

"श्रीदामोदराष्टकम्" का कीर्तन हुआ है। प्रतिदिन सबेरे श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य लीलासे श्रीमन्महाप्रभुजीका श्रीरंगममें चातुर्मास्य-व्रत-पालन प्रसंग तथा शामको श्रीमद्भागवतसे दाम-बन्धन लीलाका पाठ हुआ है। इसके अतिरिक्त महाजन पदावलियों का कीर्तन भी हुआ है। विशेष-विशेष अवसरोंपर श्रील आचार्यदेवके भाषण बड़े ही मार्मिक, प्रसन्न-गम्भीर, दार्शनिक एवं हृतकर्णरसायन होते थे।

श्रीअन्नकूटका ऐसा विराट महोत्सव श्रीनवद्वीप धामके लिये सर्वथा अभिनव और अश्रुतपूर्व था। लगभग ४५० प्रकारके सुस्वादु पदार्थोंका भोग श्रीश्री-गान्धर्विका-गिरिधारीजीका आरोगा गया था। दिन भर तथा रातके १० बजे तक आनेवाले सहस्रों व्यक्तियोंको श्रीअन्नकूटका महाप्रसाद वितरण किया गया है।

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरामें—

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरामें श्रीदामोदर-व्रतमें महीने भर तक त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त नारायण महाराजने दैनिक प्रातःकालमें क्रमशः श्रीव्यासदेवकृत श्रीदामोदराष्टकम्, श्रीमन्महाप्रभुके श्रीमुखविगलित "श्रीशिक्षाष्टकम्", श्रीरूप गोस्वामीकृत "श्रीउपदेशामृतम्" तथा श्रीरघुनाथ-दासकृत "श्रीमनःशिक्षा" की व्याख्या तथा शामको श्रीमद्भागवत दशम् स्कन्धसे दाम-बन्धनलीलासे प्रारम्भ करके ब्रह्म स्तुति तक पाठ-व्याख्याकी थी। इसके अतिरिक्त श्रीवैष्णव पदावलियों, महामंत्र तथा श्रीदामोदराष्टकादिका दैनिक कीर्तन हुआ है। अन्नकूटके अवसर पर त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति-वेदान्त नारायण महाराज और त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त भिक्षु महाराजके उपदेश पूर्ण भाषण हुए। अंतमें उपस्थित लगभग ५०० श्रद्धालु-जनोंको महाप्रसाद भोजन कराया गया।

जगद्गुरु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती "प्रभुपाद" की तिरोभाव तिथि—

गत २६ अग्रहायण, १२ दिसम्बर, रविवारके दिन जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' की तिरोभाव तिथिके उपलक्ष्यमें कलकत्तामें कॉर्निग स्ट्रीट स्थित "भवानी पेपर कनसर्न" के मालिक श्रीयुक्त सुधीर कुमार साहा महाशयकी विशेष प्रार्थना पर उनके निवास स्थानमें श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी परिचालकतामें सबेरेके ६ बजेसे १२ बजे एक महती धर्म सभाका आयोजन हुआ, जिसमें त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति-वेदान्त नारायण महाराज, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्-भक्तिवेदान्त विष्णु दैवत महाराज आदि वक्ताओं ने श्रील प्रभुपादके अतिमर्त्य जीवन-चरित्र तथा उनकी अप्राकृत शिक्षाके सम्बन्धमें भाषण दिया। तदन्तर श्रील प्रभुपादकी और श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-राधाविनोद बिहारीजीके भोगरागके पश्चात् उपस्थित लगभग १०० व्यक्तियोंको सुस्वादु महाप्रसाद दिया गया।

पुनः वहीं शामके ४ बजेसे ६ बजे तक त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराजने श्री-

मद्भागवत प्रथम स्कन्दसे 'निगम कल्पतरोर्गलित फलं"—श्लोकका पाठ करते हुए सुन्दर व्याख्या की तथा प्रसङ्गके अनुसार श्रीश्रीगुरुतत्त्वका बड़ा ही सिद्धान्त पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया।

उसी दिन रातके ८ बजेसे १० बजे तक कलकत्तेके प्रसिद्ध वस्त्र-व्यवसायी, "श्रीदुर्गास्टोर" के मालिक श्रीराधे-श्याम सादाके श्रीकैलास बोसस्ट्रीटके वास भवनमें परमाराध्यतम श्रील आचार्यदेवके आनुगत्यमें एक महती धर्मसभाका आयोजन किया गया, जिसमें त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज, श्रीवृन्दावनबिहारीदास ब्रह्मचारी, श्रीवृषभानुदास ब्रह्मचारी तथा श्रीकृष्ण-कृपादास ब्रह्मचारी आदि वक्ताओंने श्रील प्रभुपादके जीवन-चरित्र और शिक्षाके विभिन्न पहलुओं पर विचार प्रकट किये।

विभिन्न स्थानोंमें शुद्धाभक्तिका प्रचार—

समितिके विशेष प्रचारक त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिदण्डी महाराज, श्रीपाद अधोक्षजदास बाबाजी महाराज, श्रीकानाईदास ब्रह्मचारी तथा श्रीनन्ददुलाल ब्रह्मचारी आदिके साथ आसाम प्रदेश के विभिन्न स्थानोंमें प्रचार करके आजकल उत्तरी-पूर्वी बङ्गालके शिलीगुड़ी और रायगंज आदि स्थानों में विपुलभावसे श्रीमन्महाप्रभुके द्वारा प्रचारित शुद्धाभक्तिका प्रचार कर रहे हैं।

विशेष सूचना

श्रीभागवत पत्रिकाके ग्राहकोंसे विशेष रूपसे अनुरोध है कि यदि आपने इसकी वार्षिक भिक्षा नहीं भेजी है तो तुरन्त भेजिये। साथ ही दो नये ग्राहक भी बनाइये। आपका यह कार्य शुद्धाभक्तिके प्रचार-प्रसारमें सहायक बनकर भगवत्कृपा प्राप्तिका प्रशस्त-पथ प्रस्तुत करेगा।

छप रहा है !

छप रहा है !!

जैव-धर्म

हमें यह सूचित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि वर्तमान वैष्णव जगतमें विशुद्ध भक्ति-भागीरथी की पुनीत धाराको पुनः प्रबल वेगसे प्रवाहित करने वाले, विभिन्न भाषाओंमें भक्ति सम्बन्धित सैकड़ों ग्रन्थोंके रचयिता, श्रीचैतन्य महाप्रभुके पार्षद सप्तम गोस्वामी श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा बंगला भाषामें लिखित सुप्रसिद्ध ग्रन्थ—'जैवधर्म' (जीवका धर्म) का हिन्दी-संस्करण छप रहा है और शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है।

'जैवधर्म' कहनेसे जीव-सम्बन्धी धर्म या जीवके धर्मका बोध होता है। बाह्यदृष्टिसे विभिन्न देशोंकी विभिन्न जातियों एवं विभिन्न वर्गोंके मनुष्यों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों तथा दूसरे दूसरे विभिन्न प्राणियोंके धर्म भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होनेपर भी अखिल ब्रह्माण्डोंके निखिल देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग और पेड़-पौधोंकी चौरासी लाख योनियोंमें स्थित निखिल जीव समूहका नित्य और सनातन धर्म एक है। जैवधर्म-ग्रन्थमें इसी सार्वत्रिक, सार्वकालिक तथा सार्वजनिक नित्यधर्म—'जैवधर्म' का हृदयग्राही साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। इसमें वेद, वेदान्त, उपनिषद, श्रीमद्भागवत आदि पुराण, ब्रह्मसूत्र,महाभारत, इतिहास, पंचरात्र, षट्सन्दर्भ,श्रीचतन्य-चरितामृत, भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि आदि सद्ग्रन्थोंके अतिशय गंभीर और गहन विषयोंका सार सरस सरल और उपन्यास-प्रणालीमें गागरमें सागरकी भाँति भरा हुआ है।

इस ग्रन्थमें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनके रूपमें ग्रथित भगवतत्त्व, जीव तत्त्व, शक्ति-तत्त्व, जीवकी बद्ध और मुक्त दशाएँ, कर्म, ज्ञान और भक्तिका स्वरूप एवं तुलनात्मक विचार, वैधी-रागानुगा भक्तिका सिद्धान्तपूर्ण सरस विचार-वैशिष्ट्य तथा श्रीनाम-भजनकी सर्वश्रेष्ठता आदिका अपूर्व मार्मिक विवेचन है।

हिन्दी जगतमें अबतक वैष्णव-धर्मके परमोच्च दार्शनिक सिद्धान्तों एवं सर्वोत्कृष्ट उपासना-पद्धतिका तुलनात्मक बोध कराने वाले ऐसे अपूर्व सुन्दर एवं सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थका अभाव था। "जैवधर्म" हिन्दी जगत्में इस अभावकी पूर्ति कर दार्शनिक एवं धार्मिक जगतमें, विशेषतः वैष्णव जगतमें युगान्तर उपस्थित करेगा, इसमें सन्देह नहीं।

अतः पाठकोंसे हमारा विशेष अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थरत्नका संग्रह कर अवश्य ही अध्ययन करें।